

ISSN-2280-2335

सामीचीज

(सहित-संस्कृति और समाज के सुलेखन की अर्थ-व्यक्ति-संस्कृतिक शक्ति)



अनन्तकुमार मोरसामी के रचनाओं पर केन्द्रित

22

वर्ष - 12 ■ अंक - 22 ■ फरवरी-मार्च - 2019 ■ मूल्य ५० रुपये ■ पृष्ठ 01
संपादक - देवेश ठाकुर

देवेश ठाकुर रचनावली

(16 खंडों में)

(द्वितीय संस्करण)

मूल्य : 16,500/-

नमन प्रकाशन
4231/1, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

समीचीन

(साहित्य-समाज-संस्कृति और राजनीति के खुले मंच की अर्द्ध वार्षिक-अव्यावसायिक पत्रिका)

प्रबंध संपादिका :

डॉ. रोहिणी शिवबालन

संपादक-प्रकाशक :

डॉ. देवेश ठाकुर

संयुक्त संपादक :

डॉ. सतीश पांडेय

उप-संपादक :

डॉ. प्रवीण चंद्र बिष्ट

संपादकीय-संपर्क :

बी-23, हिमालय सोसाइटी, असल्फा,
घाटकोपर (पश्चिम), मुंबई-400 084
टेलिफोन : 25161446

Email : sameecheen@gmail.com

विशेष :

‘समीचीन’ में प्रकाशित रचनाओं में व्यक्त विचार संबद्ध रचनाकारों के हैं। संपादक-प्रकाशक की उनसे सहमति आवश्यक नहीं है। सभी विवादों का न्याय-क्षेत्र मात्र मुंबई होगा। सभी पदाधिकारी पूर्णरूप से अवैतनिक।

विद्वत् परीक्षक मंडल:(Peer Review Team)

1. डॉ. शरेशचंद्र चुलकीमठ

पूर्व अध्यक्ष, हिंदी विभाग,
कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़

2. डॉ. अरुणा दुबलिश

पूर्व प्राचार्य, कनोहरलाल महिला
स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मेरठ (उ. प्र.)

3. डॉ. पुष्पारानी

अध्यक्ष, हिंदी विभाग,
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय,
कुरुक्षेत्र, हरियाणा

4. डॉ. नरेंद्र मिश्र

हिंदी विभाग,
जयनारायण व्यास, विश्वविद्यालय, जोधपुर

स्वामी, मुद्रक, प्रकाशक : देवेश ठाकुर ने प्रिंटोग्राफी सिस्टम (इंडिया) प्रा. लि., 13/डी, कुर्ला इंडस्ट्रियल एस्टेट, नारी सेवा सदन रोड, नारायण नगर, घाटकोपर (प.), मुंबई-400086 में छपवाकर बी-23, हिमालय सोसाइटी, असल्फा, घाटकोपर (प.), मुंबई-400084 से प्रकाशित किया।

संपादक : देवेश ठाकुर

वर्ष-12,

मूल्य - 50 रुपए

अंक-22,

पूर्णांक-61

सहयोग : एक प्रति रु. 50 /-, वार्षिक रु.100/-, पंच वार्षिक रु.500/-, आजीवन सदस्यता रु. 5000/-

इस अंक में	पृष्ठ
<input type="checkbox"/> अपने तई	5
<input type="checkbox"/> परिचय : डॉ. श्रवणकुमार गोस्वामी	15
<input type="checkbox"/> एक लेखक, एक पिता, एक पति-सुजाता राजी	18
<input type="checkbox"/> श्र. कु. गो.-मेरे बंधु, मेरे सखा-अशोक प्रियदर्शी	23
<input type="checkbox"/> आजादी के बाद का इतिहास टटोलते एक संवेदनशील मन के चुभते दंश : डॉ. सतीश पांडेय	29
<input type="checkbox"/> सृजनशीलता का वह पक्ष, जिसने मुझे गोस्वामीजी पर लिखने के लिए प्रेरित किया-रतन वर्मा	36
<input type="checkbox"/> जंगलतंत्रम एक विश्लेषण-डॉ. अरुणा दुबलिश	45
<input type="checkbox"/> 'केंद्र और परिधि' बरक्स शहरी गिद्ध-डॉ. शीतला प्रसाद दुबे	52
<input type="checkbox"/> कथाकार गोस्वामी का सृजनवृत्त और चक्रव्यूह-डॉ. विद्या भूषण	58
<input type="checkbox"/> समकालीन अभिव्यक्ति : एक टुकड़ा सच-डॉ. उषा मिश्र	63
<input type="checkbox"/> मेरे मरने के बाद : एक हिंदी साहित्यकार के त्रासदीपूर्ण जीवन के परिप्रेक्ष्य में....-प्रा. प्रदीप जटाल	71
<input type="checkbox"/> अजानी दुनिया की कथा है : हस्तक्षेप-डॉ. अनिल सिंह	81
<input type="checkbox"/> सार्वजनिक उद्योगों की बदहाली और राहु-केतु उपन्यास-डॉ. कृष्णकुमार श्रीवास्तव	85
<input type="checkbox"/> दर्पण झूठ न बोले-डॉ. उमेश शुक्ला	90
<input type="checkbox"/> क्या आपके भीतर भी छिपा है कोई 'आदमखोर'-डॉ. महेश दबंगे	100
<input type="checkbox"/> दरकते रिश्तों के बीच सेतु-डॉ. मिथिलेश शर्मा	108
<input type="checkbox"/> राजनेताओं के छल-छद्म का यथार्थ चित्रण-डॉ. श्यामसुंदर पाण्डेय	113
<input type="checkbox"/> भारत बनाम इंडिया-उपन्यास में ग्रामीण एवं शहरी जीवन-डॉ. उमाशंकर पाल	118
<input type="checkbox"/> बहुआयामी जीवन की एकांकी : सोमा-डॉ. सतीश पांडेय	122
<input type="checkbox"/> समय के बहाने समय को व्यक्त करता नाटक-डॉ. प्रवीण चंद्र बिष्ट	127
<input type="checkbox"/> भारत बनाम इंडिया-उपन्यास में ग्रामीण एवं शहरी जीवन-डॉ. वैशाली दबंगे (खेडकर)	132
<input type="checkbox"/> श्रवणकुमार गोस्वामी के प्रहसन का यथार्थ-डॉ. सत्यवती चौबे	140

अपने तई

पिछले 30-35 वर्षों में हिंदी के रचनात्मक लेखन में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ है। अब जगदीश चतुर्वेदी जैसे अकवियों और अकहानीकारों की विरोधात्मक प्रवृत्तियों से हिंदी साहित्य जगत मुक्त हो चुका है। साहित्य के लिए मैं इसे शुभ और सुखद मानता हूँ। आज के अनेक रचनाकार यथार्थ की भूमि पर खड़े होकर अपने आसपास की वास्तविक परिस्थितियों विषमताओं धर्म और राजनीति से लेकर व्यक्ति के अंतर्संबंधों के पटल पर अपनी रचना भूमि तैयार करते हैं। रचनाकार की यही प्रतिबद्धता उसके लेखन को महत्वपूर्ण और सार्थक बनाती है।

लेकिन... लेकिन ऐन-केन प्रकारेण अपने को शीर्ष पर पहुँचाने वाले समीक्षकों का एक छोटा लेकिन प्रभावशाली गिरोह अपनी सेवा में लगे लेखकों की रचनाओं को तो रेखांकित करता है साथ ही अनेक समर्थ और संकल्पित लेखकों को हाशिए पर डालने का षडयंत्र भी रचता है। हिंदी के अनेक ऐसे लेखक हैं जिन्होंने पूरी ईमानदारी और निष्ठा के साथ रचना-धर्म निभाया लेकिन उनके लेखन की जानबूझकर उपेक्षा की गई। एक अध्यापक और लेखक होने के नाते मैंने अपने समय के लेखकों को ध्यान से और ईमानदारी के साथ पढ़ा है। उनमें से अनेक लेखकों ने संकल्पित होकर अपनी सामाजिक और लेखकीय उत्तरदायित्व का निर्वाह किया है लेकिन उन्हें जो मान्यता मिलनी चाहिए थी या यूँ कहें कि जिस स्वीकृति के वे हकदार थे वह उन्हें नहीं मिल पाई। शैलेश मटियानी जैसे रचनाकारों की उपेक्षा की गई उनके निधन पर उनका पाठक तो शोकाकुल हुआ लेकिन डॉक्टर नामवर सिंह जैसे शीर्ष आलोचक ने उनके प्रति शोक संवेदना व्यक्त करने से इंकार कर दिया क्योंकि वे उस समय दूरदर्शन पर समाचार देख रहे थे जबकि मेरा यह मानना है कि आज़ादी के बाद शैलेश मटियानी जैसा जीवट का हिंदी लेखक अभी तक पैदा नहीं हुआ खैर...।

‘समीचीन’ के स्वरूप को परिवर्तित करने के पीछे हमारे दो आशय रहे हैं। एक यह कि हाशिए पर डाल दिए लेखकों की रचनाधर्मिता को रेखांकित किया जाए और दूसरा यह कि नवीन प्रतिभाओं को सहृदयता के साथ पाठकों के सम्मुख लाया जाए। पिछले दो अंकों में मान्य समीक्षकों द्वारा मंगलेश डबराल और सूर्यबाला पर विशेष सामग्री प्रस्तुत की गई है। इस अंक में हम बिहार के यशस्वी रचनाकार श्रवण कुमार गोस्वामी पर नए समीक्षकों का विवेचन-विक्षेपण और मूल्यांकन प्रस्तुत कर रहे हैं।

गोस्वामी जी के व्यवस्थित और अनुशासित व्यक्तित्व की भाँति उनका लेखन भी शालीन, कृत्रिम, और विशेषणों या उपमाओं से दूर अपने समाज की नब्ज पर धीरे से हाथ रखने वाला है। सधी हुई भाषा में सीधे-सीधे अपनी बात रखने वाले गोस्वामी ने अपने दर्जन भर उपन्यासों और कथा-संग्रहों में समाज के सभी पक्षों पर लेखनी चलाई है। विशेष यह कि उनके उपन्यास और कहानियों में कथानक और कथ्य का दोहराव परिलक्षित नहीं होता। समाज के अनेक पक्षों को उन्होंने उकेरा है फिर चाहे वह शिक्षा व्यवस्था का विद्रूप हो या आदिवासी समाज की ट्रेजेडी, प्रशासनिक भ्रष्टाचार हो या सामान्य वर्ग की व्यथा-कथा --- उन्होंने अपनी सहज अनुभूति, संवेदना और सक्षमता के साथ अपने लेखन धर्म का निर्वाह किया है। हमें विश्वास है कि हमारे सुधी पाठकों को इस अंक के माध्यम से गोस्वामी जी के व्यक्तित्व और कृतित्व के विषय में उपयोगी जानकारी प्राप्त होगी। अस्तु!

संसदीय चुनाव नजदीक आ रहे हैं और सत्ता पक्ष तथा विपक्ष की तू-तू, मैं-मैं दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही है। आश्चर्य और क्षोभ होता है यह देखकर कि दोनों पक्ष एक दूसरे की टोपी उतारने में कोई कसर नहीं रख रहे हैं। चुनाव पहले भी होते रहे हैं लेकिन एक दूसरे के प्रति ऐसी घटिया प्रतिक्रिया कभी नहीं देखी गई। इस बार जो अधिक लफ़्फ़ाजी चल रही है, वह अत्यंत शर्मनाक है। एक ओर सत्ता पक्ष के लोग अपनी करनी और भाषाई फूहड़पन से देश के सांप्रदायिक सौहार्द के ताने-बाने को खुलकर ध्वस्त करने का प्रयास कर रहे हैं तो दूसरी ओर विपक्षी भी उन्हें उसी भाषा में गरिया रहा है। दोनों पक्ष एक दूसरे के शीर्ष नेता को पप्पू और चोर के विशेषणों से अलंकृत कर रहे हैं। यह स्थिति अत्यंत कष्टकारक और अशोभनीय है।

यों तो सत्तापक्ष ने सत्ता में आने से पहले ही बड़े-बड़े वायदे करके देश को बरगलाना आरंभ कर दिया था। सत्ता में आने के बाद भी यह क्रम रुका नहीं है। किसानों के स्तर में सुधार लाने, सबको साथ लेकर सबका विकास करने, सामान्य तथा अति सामान्य वर्ग को शिक्षा, आवास, बिजली, पानी, गैस मुहैया कराने, बैंक में उनका खाता खोलने, विदेशों से काला धन वापस लाने और हर व्यक्ति के खाते में 15-15 लाख जमा करने के लुभावने वायदों को सुनकर भोली-भाली जनता विमोहित हो गई थी। लेकिन समय बीतने के साथ जब सच्चाई सामने आई तो उसे लगने लगा कि उसके साथ छल किया गया है। उधर सत्ता पक्ष अपनी उपलब्धियों के बड़े-बड़े आँकड़े दिखाकर यह जताना चाह रहा है कि उसने देश के परिदृश्य को सकारात्मक बनाने में कितना सारा योगदान दिया है। लेकिन इन आँकड़ों की विश्वसनीयता पर विपक्ष हमेशा प्रश्नचिन्ह लगाता रहा है। अभी हाल ही में कुंभ के मेले को लेकर सत्ता पक्ष द्वारा यह प्रचारित किया गया कि पहले दिन दो करोड़ श्रद्धालुओं ने गंगा स्नान किया। जब कि सच यह है कि 50-55 लाख श्रद्धालुओं को ही स्नान करने की सुविधा प्राप्त हो सकी। बाकी अन्य आँकड़ों की भी यही स्थिति है। वास्तव में सत्ता पक्ष की सरकार मात्र आँकड़ों की सरकार है।

ठीक है, कुछ काम अवश्य हुआ है। उसके द्वारा चलाया गया स्वच्छता अभियान, बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ, नारी की सुरक्षा आदि प्रयास सराहनीय हैं। लेकिन प्रश्न उठता है कि क्या इन प्रयासों में उसे इच्छित सफलता मिली है। करोड़ों रुपए खर्च करने के बाद भी गंगा मैली की मैली ही है। राजधानी में गली-गली में कूड़े कचरे के ढेर देखे जा सकते हैं। 3-3 साल की बेटियों के साथ बलात्कार हो रहा है। महिलाओं के प्रति दुष्कर्म में बढ़ोत्तरी हुई है। स्वतंत्र सोच वाले बुद्धिजीवियों का अपमान किया जा रहा है। सामाजिक कार्यकर्ताओं और पत्रकारों की हत्या हो रही है या उन्हें उपेक्षित और अपमानित किया जा रहा है तथा गोरक्षा के नाम पर एक संप्रदाय विशेष के लोगों को निशाने पर लिया जा रहा है। संस्कृति, राष्ट्रीयता, धर्म और श्री राम की पूजा करने का दिखावा करने वाले सांप्रदायिक जंतु हिंसक और क्रूरता का पर्याय बन गए हैं।

सत्ता पक्ष की तरफ से बार-बार यह लाँछन लगाया जाता है कि पिछले 70 वर्षों में परिवारवादी पिछड़ी सरकार के महानुभावों ने देश की प्रगति में कोई रुचि नहीं ली और भ्रष्टाचार को ही बढ़ावा दिया। प्रश्न उठता है कि क्या पिछले 70 सालों में देश का कोई विकास नहीं हुआ। आजादी प्राप्त करने के समय तक देश में सुई तक नहीं बनती थी। आज हम चाँद तक जा चुके हैं। सत्ता पक्ष यह क्यों भूल जाता है कि शिक्षा, विज्ञान, कृषि, तकनीक आदि क्षेत्रों में देश ने अभूतपूर्व प्रगति की है। हरित क्रांति कौन लाया? बड़े-बड़े बाँधों का निर्माण किसके शासनकाल में हुआ? इतने सारे विश्वविद्यालय और शोध-संस्थान किसने स्थापित किए? अणुशक्ति जैसे संस्थानों के स्थापन की कल्पना किसकी है? बैंकों का राष्ट्रीयकरण किसने किया? तीन-तीन युद्धों को किसने जीता यह सूची बहुत लंबी है। इस सब का विस्तार से विवेचन फिर कभी, फिर कहीं।

अपनी बात को संक्षेप में रखने के लिए हम नयनतारा सहगल के इस भाषण को उद्धृत कर रहे हैं जो उन्हें यवतमाल (विदर्भ) में 11 जनवरी को 12 वें मराठी साहित्य सम्मेलन के उद्घाटन पर पढ़ना था। इसके लिए उन्हें काफी पहले आमंत्रित कर लिया गया था। लेकिन ऐन मौके पर सत्ताधारी सरकार में संस्कृति और शिक्षा मंत्री श्री विनोद तावडे से धमकाए जाने पर आयोजकों द्वारा निमंत्रण वापस ले लिया गया। पाठक वर्ग सहज ही अंदाजा लगा सकता है कि सत्ता वर्ग स्वतंत्रचेता बुद्धिजीवियों से किस प्रकार व्यवहार करता है।

अपने पाठकों की जानकारी के लिए हम साहित्य अकादमी से पुरस्कार प्राप्त 91 वर्षीय नयनतारा सहगल के संपूर्ण भाषण को यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं :

This is an emotional moment for me and I feel privileged to be here with you. I feel I am standing in the shadow of great maharashtrians Mahadev Govind Ranade who founded the Sammelan, and whose name is part of the modern history of our country, and the distinguished Marathi writers who have chaired its conventions, and all the writers who have taken part in its sessions and whose writing has increased the great

creative enterprise known as Indian literature.

It is also an emotional moment for me because of my own connection with Maharashtra through my father, Ranjit Sitaram Pandit. I would like to tell you a little about him. He was a Sanskrit scholar from a family of distinguished Sanskrit Scholars and he translated three Sanskrit classics into English: Mudra rakshasa , Kalidas Ritusamhara and Rajatarangini.

Rajatarangini is the 12th century history of the kings of Kashmir and Kalhana, and it had a special fascination for my father because his two great loves were Sanskrit and Kashmir. He worked on this translation during two of his jail terms during British rule and dedicated it to his Kashmiri father in law, Pandit Motilal Nehru. His brother-in-law, Jawaharlal Nehru, wrote an introduction to this work when it was published. I am deeply grateful to Dr. Aruna Dhere and Shri Prashant Talnikar for their great labour of translating this massive history into my father's and their own native tongue, Marathi. I know that nothing would have made him happier.

Both my parents took part in the national movement for freedom under Mahatma Gandhi. My mother, Vijayalakshmi Pandit, was imprisoned three times and my father four times. During his fourth imprisonment he fell seriously ill in the terrible conditions and environment of Bareilly jail, and was given no medical treatment and my mother was not informed how ill he was. Yet he had refused to ask for his release.

When she was finally informed of his condition she was allowed to have a 20-minute interview with him. It took place, according to the rule, in the office of the jail superintendent and under his watchful eye, which gave a political prisoner no privacy with his visitor. It shocked my mother to see him brought in on a stretcher. His head had been saved and his body was emaciated.

She almost broke down at the sight of him but somehow she held back her tears because she knew he would not want her to cry in front of the jailer. He told her why he wouldn't ask for the favour of being released. He said "I have fought with the lions , Gandhi and Nehru. Do you want me to behave like the Jackal now?"

She knew she couldn't change his mind so she controlled herself and sat near the stretcher and held his hand, and gave him news of home and the children, and what was growing in the garden he loved. When the government released him at last, it was only to die about three weeks later.

Many years later, after independence, my mother was India's High

Commissioner in Britain and sat next to Prime Minister Winston Churchill at a lunch, and he said to her, “We killed your husband, didn’t we?” It was a admission that took her by surprise.

Most of you were not born in the 1940’s, and you grew up in an independent country, so I have shared this personal story with you to show you the courage and discipline of those times, and the spirit of the men and women who fought for freedom. My parents were among those thousands of Indians... known and unknown, young and old... who committed their lives to that great fight and suffered all kinds of hardships because they had a passion for freedom. I want to ask you, do we have that same passion for freedom today? Are we worthy of those men and women who have gone before us, some of whom died fighting so that future Indians could live in freedom?

I am asking this question because our freedoms are in danger. The dangers to them are so much on my mind that when I was thinking about what I should say to you, I knew I had to talk about all that is happening in India today, because it is affecting every side of our lives: what we eat, whom we marry, what we think and what we write, and, of course, how we worship.

Today we have a situation where diversity, and opposition to the ruling ideology, are under fierce attack. Diversity is the very meaning of our civilization. We have old literature in many different languages. We eat different foods, we dress differently, we have different festivals, and we follow different religions. Inclusiveness has been our way of life, and this ancient multicultural civilization whose name is India is a most remarkable achievement that no other country has known. Today it is threatened by a policy to wipe out our religious and cultural differences and force us into a single religious and cultural identity.

At one stroke this policy wipes out the constitutional rights of millions of our country men and women who are not Hindus and makes it, outsiders and enemies of them. At Independence, our founding father’s rejected a religious identity and had the wisdom to declare India a secular democratic republic, not because they were against religion but because they understood that you are deeply religious country of many religions, only a secular state would provide the overall umbrella of neutrality under which every Indian would have the right to live and worship according to his or her faith.

The Constituent Assembly which to this decision was made up of a majority of Hindus, yet they drew up a Constitution whose preamble affirmed of our life of liberty, equality and fraternity for all Indians.

This high ideal was inspired by Ambedkar, who was the chief architect of the Constitution, and a great Maharashtrian whose insistence that all human beings are equal, started a revolution against caste. That High ideal has now been thrown aside. The minorities, and those who don't support the Hindu rashtra agenda, have become targets for fanatics who roam the streets.

We have recently seen five citizens falsely charged with conspiracy and arrested on grounds of sedition. These are men and women who have spent years on their lives working for tribal rights and forest rights, and for justice for the marginalised. Christian churches have been vandalised and Christians are feeling insecure. Lynch mobs are openly attacking and killing Muslims on invented rumours that they were killing cows and eating beef. We are watching all this lawlessness on TV.

In Uttar Pradesh, these mob attacks on the cow pretext has become common, while the authorities standby and look on. When terrorism of this kind becomes official, as it has in Uttar Pradesh, Where can we look for justice? Mob violence backed by the state goes on in many places on defenceless people, and guilty have not been convicted. In some cases their victims have been charged with the crimes instead, in some cases, the criminals have been congratulated. The human cost of this tragic situation is that it is a time of fear and grief for many Indians who no longer feel safe living and worshipping as they have always done, and have a right to do. The poor and helpless among them.... some of whom have been driven out of their villages and their homes and jobs ... are living without work, or help or hope, or future.

I write novels and my material for story telling has been political. As we writers know, we do not choose our material. We make stories out of the material and atmosphere around us, and because I grew up during the years of the fight for freedom, the values of that time and of the nation it created have been the stuff of my fiction and non - fiction. I had thought of my novels as being about the making of modern India. But because my last two novels are about the times we are now living in, they are about the unmaking of modern India.

As we are writers, let us know that what is happening to our fellow writers and artists in this political atmosphere. We are seeing that the question in mind, the creative imagination, and freedom of expression have no place in the present political climate, and where there is no respect for freedom of thought or for democratic rights, writing becomes risky activity.

This has always been the case in authoritarian regimes all over the

world where art is kept under state control and writers face punishment and prosecution if they step out of line.

Take the example of a young poet called Joseph Brodsky in Stalin's Soviet Union. Brodsky is arrested and his interrogator waves a paper at him and says, "Do you call yourself a poet? Do you call this a poem? It is not a poem if it makes no material contribution to the Soviet Union." And he throws Brodsky into jail. Years later, Joseph Brodsky wins the Nobel Prize for literature. Another famous Russian case is of Solzhenitsyn, who was condemned to hard labour in Siberia for many years for criticizing the government, and who also won the Nobel Prize for literature.

And now the same ignorance about art and literature is in action here, and writers are facing anger of ignorant criticism, and much worse. Three eminent Maharashtrian rationalist, Narendra Dabholkar, Govind Pansare and M.M. Kalburgi have been shot dead for rejecting superstition in favour of reason, and Gauri Lankesh of Bengaluru for her independent views and opposition to Hindutva. Others have been threatened with death and forbidden to write. We are told, don't publish your books or we will burn it. Don't exhibit your paintings or we will destroy your exhibition. Filmmakers are told, 'Change the dialogue in this scene and cut out the next scene or we will not let your film be shown, and if you show it we will attack the cinema hall. Don't do anything to hurt our sentiments.'

In other words, they are saying: do as you are told, or your life and your art are not safe. But the creative imagination cannot take orders from the state, or from the mob. And the question of hurting sentiments is, of course, nonsense. A population of 1 billion people cannot be made to think alike. Every community has its own views and its own sensitivities on various issues but sentiments cannot decide what is right or wrong. In some cases it is even our duty to hurt sentiments. If we had been forbidden to hurt sentiments, we would still be burning widows and no reform of any kind would have taken place.

Many sentiments were hurt when the Hindu code bill was been debated and sadhus threw stones at the Parliament House. But if the bill had not been passed, Hindu women would have had no rights.

Historians are feeling the heat now that Indian history has been brought under state control. In some States, large chunks of the past have been distorted or done away with altogether. And this is the work of Hindutva Minds who have been specially chosen to rewrite it. If I were to invent a dialogue between an Indian historians and one of these re-writers of Indian history, it would go something like this. This historian says to the rewriter: 'Akbar won the Battle of Haldighati. But in this

book, you are saying that he lost it. How come?’ The rewriter replies, ‘He lost it because I have decided that he lost it. History is what we say it is.’ Some of these rewritten text books have wiped out the whole Mughal empire, and not content with wiping out the past, all remaining reminder of it are being demolished.

The Babri Masjid has been knocked down, and Mughal and Muslim names of towns and roads are being changed. Some textbooks have censored all mention of Nehru, whose government laid the foundation of modern India, and Mahatma Gandhi was of course murdered by this mentality in 1948 for the blasphemy of the mantra he gave us : Ishwar Allah Tere Naam; Sabko Sanmati De Bhagwan. Gandhi’s non- violence is seen as emasculating Indians and making cowards of them. Personally, I think that nothing needed greater heroism then the way unarmed Indians confronted the armed might of an empire. One of my novels called Lesser Breeds is my tribute to that unique time.

With all that is been wiped out, so is the scientific frame of mind that we have cultivated since independence. It is being replaced by myths and legends, and a medieval frame of mind.

We have been justly proud of the key institution we have built since independence, but they, too, have been brought under state control whether they concern art and literature, or history, or technology, or Science, information, education and culture. Our public universities, our museums and academies are no longer independent institutions. The Nehru Memorial Museum and Library in Delhi was an ongoing example of the damage that is being done to our Institutions, and Jawaharlal Nehru University is an ongoing target of hindutva hatred. As a Hindu and a believer in the great enlightened inheritance known as Sanatan Dharma, I cannot accept hindutva.

In this war that has been declared on diversity, dissent and debate, those who care about freedom have not stayed silent. There are marches and rallies against the destruction of our fundamental rights. There are protest by retired civil servants, by students and academics, lawyers, historians and scientist, dalits and adivasis and the farmers huge demand for their rights. The large number of farmers suicides in this area show the desperate situation they are no longer unable to face.

The Bhim Army, named after Dr. Ambedkar, is making it’s voice heard, and we are reminded that it has an inheritance of dramatic revolt, when Ambedkar and E.V. Ramasamy Periyar publicly burned the manusmriti in the 1920’s for the insulting and objectionable laws it laid down for the dalits in the caste system, condemning them to an inferior

status. The singer, T.M. Krishna, and the historian, Ramachandra Guha, are among those who have made strong individual protests. Krishna's concert was cancelled and Ram Guha received a death threat. Recently, great actor, Naseeruddin Shah, has spoken out against the war on Islam and how he fears for his children.

What can writers do in this situation? Answer is: we can write. Powerful fiction has been the result of writers stepping into controversy and taking sides, but not as polemics or propaganda. Their place and poems and novels have been about people's, not ideas, and they have been written by authors who were deeply engaged with the times they were living in, and some are still living in.

Writers don't live in Ivory Towers. Through our writing, we take sides between good and evil, right and wrong. Great literature worldwide by writers of many nationalities has done this, and this is the literature that has touched chords in succeeding generations and stays alive. We show where we stand by the subjects we choose, the stories we write, and the way we write them. Whether we are writing about grandmothers cooking, or the rain on the roof, or describing the body of our beloved, every word we write makes it clear where we stand. Writing, like all forms of creative art, is a powerful form of political activism, and it is a means of revolt. That is why dictators are so afraid of it and take steps to control it.

A writer's protest started as an 'award wapsi' movement three years ago, when about a hundred of us returned our Sahitya Akademi Awards over the murder of an award-winning writer, Dr Dabholkar, which the akademi took no notice of. But after the lynching of the poor blacksmith, Muhammad Akhlaq, in Dadri village outside Delhi, our movement has grown and widened to cover other issues concerning attacks on democracy and Indian rights.

I have mentioned the writing of foreign writers. It has left its mark on my mind because I have been able to read some of it in translation. What about Indian writing in our many languages? It is a tragedy that we cannot read each other for lack of translation. Though our music and dance and theatre and films bring us together, our literature keeps us apart, and we cannot know each other until we can read each other. I can only hope that publishers will fill this gap and that Indian literature will become available not only to us but across the world.

I have to pay a special tribute to Maharashtrian women writers, because of the formidable obstacles that women have to overcome when they put their life experiences into words on a page. They run

the risk of offending husband, family, and Society, and suffering the consequences. May their courage and the creative energy go from strength to strength.

I want to thank my host for giving me this opportunity to speak to you, and I have spoken from the heart because of the cross roads our country is at. Which way we go — towards freedom or away from it — will depend, among other things, on what we write, and our refusal to be bullied into silence. In memory of the Indians who have been murdered, in support of all those who are upholding the right to dissent, and of the dissenters who live in fear and uncertainty, but still speak their Minds, let us choose freedom.

Thank you for listening to me.

Janta से साभार उद्धृत,
अस्तु।

- देवेश ठाकुर

E-mail : sameecheen@gmail.com

□ □

परिचय



डॉ. श्रवण कुमार गोस्वामी

जन्म	: 22 नवम्बर, 1936 को राँची (झारखण्ड)
शिक्षा	: स्नातकोत्तर (हिन्दी), पीएच.डी.
आजीविका	: 1962 - 1985 तक डोरण्डा महाविद्यालय में प्राध्यापक के पद पर कार्यरत 1985 में राँची विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में कार्यभार ग्रहण 1998 में राँची विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग से आचार्य पद से सेवानिवृत्त
कृतियाँ	
उपन्यास	: जंगलतंत्रम्, सेतु, भारत बनाम इंडिया, दर्पण झूठ न बोले, राहु-केतु, मेरे मरने के बाद, चक्रव्यूह, एक टुकड़ा सच, आदमखोर, केन्द्र और परिधि, कहानी एक नेता जी की, हस्तक्षेप
कहानी संग्रह	: जिस दिये में तेल नहीं, प्रतीक्षा
नाटक	: कल दिल्ली की बारी है, समय
एकांकी संग्रह	: सोमा
हास्य एकांकी	: उड़ने वाला तालाब, उपन्यास की संरचना
प्रहसन	: पति सुधार केन्द्र, हमारी माँगें पूरी करो
लेख	: अटल जी के नाम एक धारावाहिक पत्र
जेल संस्मरण	: लौह कपाट के पीछे
समीचीन	जनवरी-जून 2019

शोध तथा आलोचना : नागपुरी भाषा, नागपुरी शिष्ट साहित्य, नागपुरी और उसके बृहत्-त्रय, भारतीय साहित्य के निर्माता राधाकृष्ण

संपादित ग्रंथ : डॉ. बुल्के स्मृति ग्रंथ, रामचरितमानस (मुंडारी ग्रंथ)

‘जंगल-तंत्रम’ डॉ. गोस्वामी का पहला उपन्यास है, जिसने हिन्दी साहित्य जगत में अपने कथानक एवं प्रतीकों के कारण हलचल मचा दी थी। इसका अंग्रेजी तथा कन्नड में अनुवाद किया गया है। साथ ही भारत सरकार के ‘एक भारत : श्रेष्ठ भारत’ योजना के अंतर्गत इस रचना का कोंकणी भाषा में अनुवाद हेतु चयन किया गया है। ‘जंगल-तंत्रम’ और जॉर्ज ओरवेल के ‘एनिमल फार्म’ का एक तुलनात्मक अध्ययन भी किया गया है। डॉ. गोस्वामी के उपन्यास ‘राहु-केतु’ का मलयालम में भी अनुवाद किया गया है।

डॉ. गोस्वामी ने गद्य की लगभग सभी विधाओं कहानी, उपन्यास, नाटक, प्रहसन, संस्मरण, धारावाहिक पत्र, आलेख तथा शोध और आलोचना आदि में लिखा है। ‘राँची तब और अब’ एक धारावाहिक संस्मरणात्मक लेख है, जो पहले झारखण्ड के प्रसिद्ध दैनिक समाचार-पत्र ‘प्रभात खबर’ में ‘एक छोटी-सी नगरी की लम्बी कहानी’ शीर्षक से धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ। बाद में पाठकों की माँग पर उसे पुस्तक रूप में प्रकाशित किया गया। इसमें डॉ. गोस्वामी ने ‘अपने बचपन के राँची’ से ‘झारखण्ड की राजधानी’ बनने के क्रम में इस स्थान में हुए परिवर्तन, शहरीकरण और क्रमिक विकास की कहानी लिखी है। राँची के संबंध में इसमें कई ऐतिहासिक सूचनाएँ भी हैं जो इस शहर से जुड़े लोगों और आने वाली पीढ़ी के लिए उनकी ओर से उपहार स्वरूप ‘यादों की गठरी’ है।

डॉ. गोस्वामी द्वारा लिखित एकांकियों में प्रकृतिप्रेम और पर्यावरण संतुलन पर आधारित एकांकी ‘सोमा’ विशेष उल्लेखनीय है जिसके रेडियो नाटक का प्रसारण आकाशवाणी, राँची द्वारा किया गया। बाद में दूरदर्शन, राँची द्वारा इस पर टेलीफिल्म भी बनाई गई। डॉ. गोस्वामी द्वारा आकाशवाणी के लिए कई प्रहसन (मेरे मरने के बाद आदि) / भारतीय इतिहास के प्रसिद्ध चरित्रों पर आधारित नाटक (पन्नाधाय, पृथ्वीराज चौहान आदि) भी लिखे गए जिनका प्रसारण लोकप्रिय कार्यक्रम ‘हवामहल’ में किया गया है।

‘यदि मैं शहनशाँ होता’ शीर्षक से डॉ. गोस्वामी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर एक डॉक्यूमेंट्री फिल्म भी बनाई गई है। डॉ. श्रवणकुमार गोस्वामी पर अबतक पी-एच. डी. की उपाधि के लिए ११ शोधप्रबंध तथा एम. फिल. की उपाधि के लिए १० शोधप्रबंध प्रकाशित हो चुके हैं।

नागपुरी झारखण्ड की भाषा है तथा डॉ. ग्रियर्सन ने अपनी ‘लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया’ में इसे भोजपुरी की विभाषा बताते हुए नागपुरी को ‘भ्रष्ट भोजपुरी’ की संज्ञा

दी थी। डॉ. गोस्वामी ने अपने शोधग्रंथ 'नागपुरी भाषा' में यह सिद्ध किया कि नागपुरी न तो भ्रष्ट है और न ही भोजपुरी है बल्कि यह एक स्वतंत्र भाषा है। डॉ. गोस्वामी ने नागपुरी को भोजपुरी, मगही, मैथिली की तरह ही बिहारी भाषा परिवार की चौथी भाषा के रूप में स्थापित किया। डॉ. गोस्वामी के इस शोध ने भारतीय भाषा विज्ञान में एक नया अध्याय जोड़ा है।

डॉ. गोस्वामी ने अपने एक लेख में देवनागरी के लिए नई लिपि की प्रस्तावना की है जो इस लिपि में वर्णों के चारों ओर लगने वाली मात्राओं के संबंध में एक समाधान है।

डॉ. गोस्वामी द्वारा रामचरितमानस के मुण्डारी अनुवाद तथा बाबा डॉ. कामिल बुल्के की स्मृति से संबंधित संस्मरणों का संकलन 'डॉ. बुल्के स्मृति ग्रंथ' का भी सम्पादन किया गया है।

संपर्क :

'आश्रय' नयी नगड़ा टोली,
चौथी गली (पूरब),
राँची-834001.

एक लेखक, एक पिता, एक पति

सुजाता राजी

डॉ. श्रवण कुमार गोस्वामी के व्यक्तित्व पर उनके मित्रों, सहपाठियों, लेखकों ने बहुत कुछ लिखा है। मेरी नजर में अगर उन्हें आप जानना चाहते हैं तो उनकी हस्तलिपि को पढ़िए। इसके लिए किसी को हस्तलिपि विशेषज्ञ होने की आवश्यकता नहीं है। पापा के हस्तलिपि की जो विशेषताएँ हैं वही विशेषताएँ उनके व्यक्तित्व की भी हैं। उनकी लिखावट बिलकुल स्पष्ट और सुन्दर अक्षरों वाली है जिसमें विशेष प्रभाव डालने के लिए न तो कोई अलंकृत पेंच या घुमाव है और न ही अपने आप को विशिष्ट बताने के लिए अक्षरों को आपस में उलझा कर उसे रहस्यमयी बनाने का प्रयास किया गया है। मेरे पिता भी अपनी हस्तलिपि की तरह ही स्पष्ट हैं। कोई दिखावा नहीं, कोई दुराव-छिपाव नहीं, कोई अलंकरण नहीं। पानी की तरह बिलकुल साफ और सहज। कभी-कभी उनकी सहजता से हम सब असहज भी हो जाते हैं क्योंकि उनके जितना सरल रहना इस भौतिक जगत में असम्भव जितना कठिन है। उनकी सहजता का कई बार लोगों ने गलत फायदा भी उठाया। राष्ट्रीय स्तर पर ख्याति प्राप्त करने के बाद भी उन्होंने कई लोगों की रचनाओं की प्रूफ रीडिंग भी की, बिना किसी श्रेय की आशा के पारिश्रमिक तो बहुत दूर की चीज है।

मुझे याद है पापा अपना स्कूटर खुद धोया करते थे। हमारे नये आवास 'आश्रय' में आने के बाद पापा की ख्याति धीरे-धीरे हमारे मुहल्ले के लोगों तक भी पहुँच गई थी। उस समय हमारे घर के आस-पास जो युवा पीढ़ी थी, उनमें एक अजीब-सा परिवर्तन नजर आने लगा। रविवार को हमारे आस-पास के घरों में सारे लड़के अड्डाबाजी छोड़कर अपनी गाड़ी चमकाने में लग जाते। माता-पिता बड़े आश्चर्य चकित थे। पूछताछ करने पर लड़कों ने बताया कि 'चाचा जी जैसी बड़ी हस्ती अपना स्कूटर खुद धो सकती है तो हम क्या चीज हैं।'

पापा को फोटोग्राफी का बड़ा शौक है। वे खुद एक अच्छे फोटोग्राफर हैं। हर महत्वपूर्ण घड़ी की तस्वीर उन्होंने कैमरे में कैद कर रखी है। जब कैमरा उपलब्ध नहीं होता या कोई महत्वपूर्ण तिथि होती तो पूरे परिवार की फोटो खिचवाने वे हम सबको स्टूडियो

ले जाया करते। इसलिए हमारे घर में बहुत से एलबम हैं। उनकी कीमत आज समझ में आती है। पापा पूजा-पाठ, मुहूर्त-ज्योतिष में विश्वास नहीं करते लेकिन फिर भी मेरी नजर में वे आस्तिक हैं क्योंकि उन्होंने हमेशा अपनी सच्चरित्रता को ही पूजा माना है। व्यंग्य में वे कहा करते हैं कि 'इत्र की जरूरत उसे होती है, जिसे अपनी दुर्गंध छुपानी हो, रोज नहाने वाले को नहीं।'

उनके अन्दर जो अनुशासन और योजनाबद्ध रूप से कार्य करने की क्षमता है, वह आश्चर्यजनक है। शायद यही कारण है कि जिस परिवेश में उनका पालन-पोषण हुआ उन सब ने उनके लेखक को प्रभावित जरूर किया लेकिन उनके व्यक्तित्व को दूषित नहीं कर पाए। परिवार में उनके लिए कई बार 'जिद्दी' शब्द का भी प्रयोग किया जाता। वास्तव में, वे अगर जिद्दी न होते तो कभी पंकज की भाँति निखर भी न पाते। अपने परिवेश की नकारात्मकता से खुद को बचाने के लिए अडिग व्यक्तित्व और बड़े साहस की जरूरत होती है क्योंकि जीवन जिस उम्र में एक व्यक्तित्व को गढ़ रहा होता है, उस समय हमारा परिवेश कब रिसकर हमारे व्यक्तित्व में बस जाता है, हमें पता ही नहीं चलता।

पापा के अन्दर साहित्यकार ही नहीं एक कलाकार बसता है, जो अपने हर कार्य को बड़े सुरुचिपूर्ण तरीके से एक अलग ही अन्दाज में करने के लिए हमेशा तत्पर रहता है। उनका किताबों को सहेजने का ढंग, अपने हाथों से जिल्दबन्द की हुई उनकी पाण्डुलिपियाँ, फिर उनमें सुन्दर अक्षरों में लिखा गया रचना का नाम, रानी रंग की स्याही से लिखी डायरियाँ, किसी कार्यालय की तरह रिकार्ड के साथ रखी गई चिट्ठियाँ, मुझे कुरियर से भेजी जाने वाली गुजिया की पैकिंग, उनके अध्ययन कक्ष में बड़ी युक्ति से सटीक एंगल पर पाईप के सहारे लटकाया गया बल्ब, हमारे घर पर बनी पानी की टंकी, उनके खुद डिजाइन किए कपड़े, पढ़े हुए अखबार और पत्रिकाओं (सामान्यतः जिसे रद्दी या भंगार कहा जाता है) को भी बड़े करीने से तिथिवार सजाकर रखना, शादी के निमंत्रण-पत्र से बना स्वरचित वॉलेट, उनके स्कूटर का खास नारंगी शेड जो पूरे राँची में किसी के पास नहीं था और बहुत कुछ।

जब मैं सिर्फ बेटी थी तो सिर्फ उनके पिता रूप को ही जानती-समझती थी। पत्नी होने के बाद मैं उनके पति रूप को भी समझ पाती हूँ। माँ किसी साहित्यिक परिवेश में पली- बड़ी नहीं हैं लेकिन वे पापा की रचनाओं की पहली पाठिका होती हैं तथा पहली समालोचक भी। किसी भी पति के लेखक होने मात्र से उनकी पत्नी स्वभाविक रूप से लेखक को मिलने वाले सम्मान की भागी हो जाती है। लेकिन एक लेखक का अपनी पत्नी को अपनी रचनाओं का पहला समीक्षक घोषित करना किसी भी पत्नी के लिए ऐसा सम्मान है, जिसके आगे सारे पुरस्कार छोटे हैं। जैसे एक पत्नी असहनीय प्रसवपीड़ा सहने के बाद अपनी संतान को सबसे पहले पति की गोद में देखना चाहती है, ठीक उसी प्रकार पापा अपनी सद्यःजात रचना को सबसे पहले माँ की गोद में डाल देते। पापा उनको हर समीचीन

समारोह में अपने साथ ले जाते, चाहे वह साहित्यिक समारोह हो या सांस्कृतिक। पापा के विभाग के लोग कभी-कभी मजाक में कहते कि गोस्वामी जी का प्रेम-विवाह है लेकिन वे बताते नहीं हैं। पापा की संगत में रहकर माँ की रुचि भी साहित्यिक हो गई। उन्हें मैंने कभी बाजार में सर्वाधिक बिकने वाली महिलाओं की प्रिय पत्रिकाएँ पढ़ते नहीं देखा। वे साहित्यिक पत्रिकाएँ ही पढ़ती हैं। माँ, पापा की रचनाओं पर खुलकर प्रतिक्रिया दिया करती हैं। माँ बताती हैं कि पापा के अंदर जो एकाकीपन था तथा लिखने के लिए जो पीड़ा थी, उसे समझने के बाद उन्होंने पापा को घर के जंजाल से मुक्त कर दिया। पापा जब किसी रचना की प्रसव-पीड़ा के दौर से गुजर रहे होते, तो हम बच्चों को तो उसकी समझ नहीं थी लेकिन माँ को सतर्क रहते देख ही हम, अपने मामले माँ के द्वारा ही पापा तक पहुँचाते थे। लेकिन ऐसे समय में वे आप कहती थीं कि वो अभी कुछ नहीं सुनने वाले हैं। उन दोनों की स्थिति मैं अब समझ पाती हूँ।

अपने सीमित साधनों में ही पापा ने जीवन को सम्पूर्णता में जीने की कोशिश की। रविवार की शाम वे अपने परिवार के नाम रखते। सुबह हम तीनों को जमकर नहलाया जाता। पापा हमारे नाखून काटते तथा कान साफ करते और शाम को तीनों बच्चों के साथ माँ को स्कूटर में बिठाकर मोरहवादी मैदान ले जाते। लौटते समय अलका होटल में हमें दोसा खिलाया जाता जो शाकाहार और बजट दोनों के अनुकूल था। पापा हिंदी फिल्में खूब देखते और दिखाते थे। पापा के साथ कहीं भी जाना थोड़ा कष्टकारी जरूर था। हम कहीं भी जाएँ पापा को जानने-पहचानने वाला कोई न कोई जरूर मिल जाता था। पहले नमस्ते होती, फिर पापा, माँ और हमारा परिचय कराते और फिर हम किनारे खड़े इंतजार करते रहते और उनकी अंतहीन बातें चलती रहतीं। वहाँ से अगर जल्दी छूट गए तो फिर कोई और मिल जाता और फिर वही बातों का सिलसिला शुरू हो जाता। इस क्रम में प्रायः फिल्म का शुरूआती कुछ हिस्सा जरूर निकल जाता।

पापा हमें स्कूटर पर स्कूल छोड़ने जाते थे। जब मूसलाधार बारिश हो रही होती तो बारिश के तेज झोके से हमें बचाने का उनका अनोखा उपाय था। वे स्कूटर के सामने जो भी खड़ा होता उसे वे अपनी तरफ मुड़कर खुद को पकड़ने के लिए कहते। उस समय आज की तरह जन्मदिन मनाने का चलन नहीं था। लेकिन पापा हमारा जन्मदिन अपने अन्दाज में मनाते। हमें उपहार में एक कलम भेंट की जाती और साथ ही वे मिठाई का डब्बा लेकर आते। पापा को किताबों से बड़ा लगाव है। अपनी आय का एक निश्चित भाग वे किताबों को खरीदने में लगाते हैं। उनका कहना है कि किताबों को माँगकर नहीं, खरीदकर पढ़ना चाहिए। हिन्दी में लिखने वालों की खराब आर्थिक स्थिति के लिए हमारी यही आदत जिम्मेदार है। हमें किताबों से इतना कुछ मिलता है पर उन्हें खरीदकर पढ़ना हमें फिजूलखर्ची लगती है, यह उस पुस्तक के लेखक के साथ बेईमानी है। उन्होंने घर के लिए जो भी फर्नीचर बनवाया या खरीदा उनमें ९९ प्रतिशत मात्र किताबों की आलमारियाँ

हैं। गृहस्थी का बाकी साजोसामान रखने के लिए हमें जुगाड़ लगाना पड़ता था। हम समझते थे यह न तो उनकी प्राथमिकता में आता है और न ही आय-सीमा में। स्कूल की एक ही किताब को मेरे छोटे भाई-बहन भी पढ़ सकें और फिर किसी जरूरतमन्द को वे किताबें दिए जाने तक सहीसलामत भी रहे, इसके लिए उन्होंने एक अनोखा उपाय निकला था। वे दो-तीन किताबों को मिला कर अपने हाथों से उन्हें जिल्द बन्द किया करते।

हमारे समाज में बहुत से ऐसे लोग हैं, जिनकी सेवा तो हम लेते हैं लेकिन उन पर किसी का ध्यान नहीं जाता है। जैसे शादी के प्रत्येक पल को स्मरणीय बनाने वाला फोटोग्राफर, किसी रेस्त्रां में प्रवेश करते समय प्रवेश-द्वार खोलकर आपका अभिवादन करने वाला पहला व्यक्ति, रिक्शेवाला आदि। इन्हें अपनी सेवा के बदले कोई टिप नहीं देता। पापा इनका ध्यान रखना कभी नहीं भूलते। रेस्त्रां से निकलते समय चुपके से पहरेदार की जेब में कुछ पैसे डाल देते। दिवाली पर रिक्शेवाले और घर की सफाई करने वाले मजदूर को अपने कपड़े, स्वेटर आदि दे आते।

पापा अतिथि सत्कार में बड़े निपुण हैं पर सांसारिकता में बड़े कच्चे हैं। हमारे घर पर भोजन के समय जो भी आता वो भोजन कर के ही जाता और मेरी माँ भी अन्नपूर्णा की तरह बने हुए भोजन में से ही सत्कार में इतने व्यंजन परोस देतीं कि अतिथि भी आश्चर्य में पड़ जाते। पापा से मिलने आए लोगों के लिए कभी-कभी इतनी बार चाय बनती कि सब परेशान हो जाते। जब देखते कि बार-बार चाय की माँग से रसोईघर का तापमान बढ़ गया है तो खुद ही उठ कर आगंतुक को पानी और नमकीन दे आते। लेकिन रस्मोरिवाज में पापा बड़े अनाड़ी हैं। सुना है कि किसी बच्चे के जन्म पर वे मन्दिर जाकर जलेबी का प्रसाद चढ़ा आए थे। घर के लोग माथा ठोककर रह गए। परिवार में बच्चे के जन्म पर सूत माना जाता है और पूजा नहीं की जाती है। प्रसाद में मीठा तो ठीक है पर हर मिठाई को भगवान को भोग लगाने की परम्परा नहीं है। ये अलग बात बात है कि पापा को जलेबी बहुत पसन्द है। एक बार अनायास निमंत्रण मिलने पर एक पड़ोसी के यहाँ शादी में उपन्यास भेंट कर दिया। पड़ोसी बुरा मान गए और उसे संरक्षित रखा गया और मेरी शादी में उस उपन्यास को फिर से उपहार के रूप में मुझे लौटा गए। मेरी शादी में फोटोग्राफर को भोजन कराने के लिए वे जैसे चिंतित थे, वो बारातियों की समझ से परे था। हमारी कोई मित्र घर पर आती तो उनका पहला सवाल होता कि वो कैसे आई है और कैसे जाएगी। लड़की होने के कारण यह नहीं करना है, वहाँ नहीं जाना है, ऐसा हमें कभी नहीं सुनने को मिला। हाँ, हमारे घर का यह नियम है कि घर से जो भी निकले वो पापा को बता कर जाता है कि वो कहाँ जा रहा है और कब लौटेगा। हम आज भी इस नियम का पालन करते हैं। दरअसल अब हम सब को इसकी आदत हो गई है। वे खुद भी इस नियम का पालन करते हैं लेकिन जब शोध के काम से किसी खोज में निकलते हैं, तब माँ को कुछ निश्चित बताकर नहीं जाते।

पापा बड़े ही आधुनिक हैं। जो प्राचीन है, परम्परागत है, उसे सहेजने के साथ-साथ आधुनिकता के लिए उन्होंने हमेशा दरवाजा खुला रखा। यही कारण है कि उन्होंने सीखना कभी नहीं छोड़ा। कम्प्यूटर का युग शुरू होने पर उन्होंने एक ट्रेनिंग सेंटर में जाकर कम्प्यूटर चलाने का प्रशिक्षण लिया। एक लेखक के रूप में प्रतिष्ठित होने और आचार्य के पद से सेवानिवृत्त होने के बाद फिर से छात्र जैसा ग्रहणशील बनने का साहस सबमें नहीं होता है। जीवन में उनको कई ऐसी कठिन परिस्थितियों से गुजरते देखा है जिनमें एक सामान्य इंसान टूटकर बिखर जाता। लेकिन उनका सामना भी उन्होंने अद्भुत साहस और धैर्य के साथ किया है। जब कभी जीवन मेरे लिए चुनौती बन कर खड़ा हो जाता है, तब खुद को याद दिलाती हूँ कि मैं अपने पापा की सुजाता हूँ।



श्रवणकुमार गोस्वामी-मेरे बंधु, मेरे सखा

अशोक प्रियदर्शी

जब हम राँची विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में साथ-साथ शिक्षक थे, वे दिन याद आ गए। जो अध्ययन की कार्य तालिका होती है उसमें शिक्षकों के नाम का संक्षेपीकरण करने की बाध्यता होती है, पूरा-पूरा नाम 'रुटीन' के खाके में अंट नहीं सकता सो भाई श्रवण कुमार गोस्वामी वहाँ श्र. कु. गो. होते थे। उनकी घंटी हो तो मैं विनोद में उन्हें कहता था-श्र. कु. 'गो'। स्वयं गोस्वामीजी भी अपने 'इनीशियल्स' के लिए इसी संक्षिप्त रूप का प्रयोग करते थे। मैंने पहले भी कई बार उनके व्यक्तित्व कृतित्व पर आलेख लिखे हैं। इस बार लिखने बैठा तो यह विनोद सूझ गया। अस्तु।

शुरू से शुरू करता हूँ। सन् १९५६ में मैंने राँची कॉलेज में हिंदी 'ऑनर्स' विषय के साथ बी. ए. में नाम लिखाया। यों भी, पासकोर्स वाली कक्षाएँ (अनिवार्य हिंदी, अँग्रेजी आदि) साथ-साथ होती थीं। बहरहाल, कई नए दोस्त मिले। उनमें से एक गोस्वामी जी भी थे, बल्कि उनमें से खास गोस्वामीजी ही थे। मैं बनारस से इंटर करके यहाँ आया था। कुछ बनारस के नाम का प्रभाव और कुछ मेरा मानना कि मैं हिंदी का सुलेखक हूँ (हालाँकि सच यह था कि तब तक सिर्फ मेरा एक लघु व्यंग्य बनारस के एक दैनिक पत्र में किन्हीं मित्र के सौजन्य से छपा था) मित्रों से ज्ञात हुआ कि गोस्वामी जी की तब तक इतनी कहानियाँ छप चुकी थीं (चाहे अल्पख्यात पास-पड़ोस की पत्रिकाओं में ही) कि एक पतला-दुबला ही सही, संकलन तैयार हो सके। उन दिनों भाई गोस्वामीजी मेन रोड वाले अपने छोटे-से, पारंपरिक, खपरैल वाले निवास में ही माता-पिता, बड़े भाई-भाभी के साथ रहते थे। बाहर का बड़ा-सा कक्ष छोटी-मोटी दुकान भी था, गोस्वामीजी का अध्ययन सह शयनकक्ष भी। छोटी बड़ी एक-दो काठ की अलमारियाँ थीं। असल में, जैसा मैंने बाद में जाना, ये लोग मूलतः बनारस के ही रहनेवाले थे। आर्थिक दबाव या जो भी कारण रहा हो, गोस्वामीजी के पिताश्री बिहार के सासाराम में आ गए। कुछ दिनों के बाद वहाँ से राँची। राँची तब छोटा-सा गँवईनुमा पठारी कस्बा था। काशी में खराद पर चढ़ाकर विशेष किस्म के खिलौने बनाए जाते हैं और उन पर लाख की रंग-बिरंगी परतें चढ़ाई जाती हैं। मुगलसराय (अब पं. दीनदयाल नगर) के रेलवे प्लैटफॉर्म पर अभी भी

ऐसे खिलौनों का पूरा सेट बिकता है। खैर, गोस्वामीजी के पिताजी और उनसे भी ज्यादा उनके बड़े भाई के हाथों में हुनर था और वे यहाँ भी वैसे ही रंग-बिरंगे काष्ठ के खिलौने और अन्य छोटे-मोटे आकर्षक सामान बनाते थे। इसी 'पुश्तैनी' आवास में गोस्वामीजी का जन्म हुआ। याने वे खतियानी झारखंडी हैं, यहाँ के 'मूलवासी' ! असल में बिहार से अलग होकर झारखंड (जिसकी राजधानी राँची ही है) बनने के बाद स्थानीय राजनीति में खतियानी-गैरखतियानी, मूलवासी-बाहरी की बयानबाजी चलती है। अब तो राँची काफी फैल गई है और गोस्वामीजी ने अपना पुराना मकान बेच दिया है (आज वह करोड़ों की संपत्ति होती)। मैं भटक गया। फिर शुरू से शुरू करता हूँ।

कक्षाओं की समाप्ति के बाद मैं उनके साथ प्रायः हर दिन उनके निवास तक चला जाता। वे अपनी किताबें-कापियाँ बाहर से ही किसी दराज में डालते और मुझे साथ लिए पास की प्रसिद्ध चाय-मिठाई-पकौड़ों की दुकान पंजाब स्वीट हाउस में पहुँच जाते। चाय के तब वे बड़े शौकीन थे। और तब का उनका लिवास उन दिनों चलनेवाला ढीले पायंचे का पाजामा और पूरी बाँह की कमीज होता। चाय के पैसे कभी मैंने दिए हों, मुझे याद नहीं। मेरी जेब में भी पैसे नदारद ही होते थे और स्वाभिमानी गोस्वामीजी अपना जेब-खर्च स्थानीय एक आध छापेखाने में प्रूफ रीडिंग कर निकालते। प्रूफ पढ़ना भी मैंने उनसे सीखा और किसी पत्रिका में प्रकाशनार्थ कोई रचना भेजते समय पत्र कैसे लिखा जाए, यह भी मैंने उनसे सीखा।

हम फोर्थ इयर में रहे होंगे। एक मित्र ने सोल्साह पहल की और आर्थिक सहयोग किया, तो पाया कि गोस्वामी जी का कहानी-संकलन प्रकाशित हो। गोस्वामी जी ने अपनी कहानियों को तरतीब दिया और संकलन की एक कहानी के शीर्षक को किताब का नाम दिया गया- 'जिस दीये में तेल नहीं...' गोस्वामीजी के आवास के पास ही शहर का प्रसिद्ध स्टूडियो था। हम कुछ मित्र, जिनमें राय स्टूडियो के स्वामी के छोटे भाई, राय, भी शामिल थे, जुटे। योजनानुसार एक स्टूल पर एक दीपक को कुछ देर जलता छोड़ देने के बाद उसे फूँक देकर बुझा दिया गया। तेलशून्य दीपक की बाती से धुआँ उठने लगा। उठते धुएँ वाले बुझे दीपक का फोटो खींचा गया और यों उस कहानी-संकलन का कवर तैयार हुआ। स्थानीय प्रेस में किताब छपी। इसी बीच गोस्वामी जी ने पता किया कि प्रसिद्ध कथाकार उपेंद्रनाथ 'अशक' राँची आए हुए हैं। उन्हें पुस्तक-लोकार्पण के लिए आमंत्रित किया गया। हमारे एक मित्र मनोविज्ञान के विद्यार्थी थे। उन्होंने अपने विभाग में एक खाली कक्ष उपलब्ध कराया। किताब अभी तैयार नहीं हुई थी। किसी तरह से एक प्रति प्रेस से गोस्वामीजी ले आए और अशक जी के हाथों उनकी पहली किताब लोकार्पित हुई।

हम एम. ए. में थे। मैं विवाहित था। एक बार मैंने पूछ लिया-विवाह क्यों नहीं करते? उन्होंने बड़ी सादगी से कहा अपनी जाति की कोई सुशिक्षित कन्या मिले भी तो। उन दिनों

अंतरजातीय विवाह का चलन विरल था। मैंने एम. ए. कर लिया। आर्थिक दबाव में उस वर्ष गोस्वामीजी ने परीक्षा 'ड्रॉप' कर दी। मैंने ए.जी. बिहार में (जिसका मुख्यालय रांची में ही था) यु. डी. सी. के ४३ पर नौकरी कर ली थी। गोस्वामी जी से हर दिन का मिलना-जुलना अब नहीं हो पा रहा था। हम दोनों की अपनी-अपनी व्यस्तताएँ और विवशताएँ। नमक-रोटी की तलाश में (वस्तुतः कॉलेज शिक्षक बनने की चाह में) मेरा राँची छूट गया। मैं पहले चाईबासा गया, फिर सिमडेगा और लंबे समय तक वहीं का होकर रह गया।

गोस्वामी जी ने एम. ए. किया। राँची में प्रायः नए खुले मारी इंजीनियरी कारखाना (एच. ई.सी.) में क्लर्क की नौकरी कर ली। वहीं के अनुभव पर उन्होंने बाद में 'राहु-केतु' उपन्यास लिखा), फिर डोरंडा कॉलेज, राँची के हिंदी के संस्थापक शिक्षक-अध्यक्ष हो गए। तत्कालीन विभागाध्यक्ष (हम सबके गुरु) डॉ. रामखेलावन पाण्डेय के निर्देशन में 'नागपुरी का शिष्ट साहित्य' विषय पर शोध करके पीएच.डी. की उपाधि ली। (नागपुरी तबके अविभाजित बिहार के छोटानागपुर और आज के झारखंड की जनभाषा है, जिसे ग्रियर्सन ने भोजपुरी की उपभाषा कहा था और जिसे गोस्वामी जी ने अपने शोध में इस क्षेत्र में स्वतः विकसित स्वतंत्र भाषा सिद्ध किया।) नागपुरी के लिए उन्होंने कई महत्वपूर्ण कार्य किए, आकाशवाणी, रांची के लिए पहली बार १३ एपिसोडों वाला धारावाहिक नाटक 'तेवर केर छाँह' लिखा, आदि। किंतु स्थानीय (भाषाई) राजनीति। नागपुरी के क्षेत्र में गोस्वामीजी प्रायः उपेक्षित छोड़ दिए गए और तब उन्होंने अपनी ऊर्जा अपने पहले प्यार, उपन्यास-लेखन, में लगा दी। 'मित्रलाभ' वाली शैली में इन्होंने एक राजनीतिक व्यंग्य उपन्यास 'जंगलतंत्रम' लिखा, जिसे तबके राजकमल प्रकाशन ने छापा। श्रीमती शीला संघू के अनुग्रह को गोस्वामीजी आज भी स्वीकार करते हैं। तब के राँची के इकलौते (और लोकप्रिय भी) हिंदी दैनिक 'राँची' ने प्रसिद्ध कथाकार राधाकृष्ण (जिन्हें इस क्षेत्र के बाहर के लोगों ने भुला दिया और जिन्हें प्रेमचंद्र ने हिंदी के देश के पाँच श्रेष्ठतम लेखकों में एक कहा था) के नाम वार्षिक पुरस्कार (छोटा नागपुर के किसी लेखक की श्रेष्ठ रचना अथवा उसकी समग्र साहित्य-सेवा के लिए देने का निर्णय लिया। गोस्वामीजी के 'जंगलतंत्रम' को पहला राधाकृष्ण पुरस्कार (सम्मान) मिला। स्पष्ट है, गोस्वामीजी का आत्मविश्वास बढ़ा। हाँ, इस पुस्तक के लोकार्पण समारोह का निमंत्रण मुझे भी गोस्वामी जी ने भिजवाया था। अपने सोच के क्रम में वे एक बार सिमडेगा आए थे तो मुलाकात हुई थी।

राँची में एक आध बार चलते फिरते गोस्वामी जी से मुलाकात हुई। उन्होंने बताया कि अब वे नया घर बनाकर नई नगराटोली में रहते हैं। उन्होंने घर चलने का निमंत्रण दिया। मैं टाल गया। यह ज्ञात हुआ कि अब वे कानपुर की श्रीमती राज गोस्वामी से विवाहित हैं, दो बेटियाँ और एक बेटा है। पिता-माता नहीं रहे। भाई कहीं चले गए हैं, अकारण।

भाभी हैं, साथ रहती हैं कि वे अब राँची विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में आ गए हैं। कई उपन्यास छप चुके हैं। शर्त थी कि उनके निवास पर चलूँ तो किताबें देंगे। वर्षों बाद मैं राँची लौटा, विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में। श्रवण कुमार गोस्वामी का संग-साथ सुलभ हुआ। विभाग में किसी से किसी प्रसंग में मैंने कहा होगा कि गोस्वामी जी मेरे मित्र हैं। गोस्वामी जी का तंज स्वाभाविक था। उन्होंने संशोधन किया-मित्र नहीं, हम दोनों परिचित हैं। इन्होंने अभी तक मेरा घर नहीं देखा है, ये मित्र कैसे हो सकते हैं। खैर!

मैंने किराए का घर गोसाईं बाबा, आत्मीय प्यार से यदा-कदा मैं उन्हें इस नाम से भी याद कर लेता हूँ, के घर से दस-पंद्रह मीटर की पैदल दूरी वाली जगह में लिया। फिर से तार जुड़े। पुरानी जो किताबें उनके पास उपलब्ध थीं, मुझे दीं। जो नई किताब छपती वह तो देनी ही थी। आज मैं कह सकता हूँ कि उनकी लिखी हर किताब का अक्षर-अक्षर मैं पढ़ गया हूँ और कई पर समीक्षाएँ भी लिखी हैं। यहीं याद आ गयी श्रवण कुमार के 'गोस्वामी' सरनेम की बात। असल में उनका जन्म गोपास्टमी के दिन हुआ था। उनके सरलमना पिता ने कहा- 'गोसइंयाँ आया है!' सो श्रवण कुमार गोस्वामी (गोसाईं) हो गए।

उनकी पुस्तकों के नाम आपको अन्यत्र मिल जाएँगे। कुछ की चर्चा मैं करना चाहूँगा। राधाकृष्णजी के निधन के बाद (उन जैसे लेखक के देश में उपेक्षित रह जाने पर) उन्होंने उपन्यास लिखा- 'मेरे मरने के बाद।' उनका कैंपस-नॉवेल 'चक्रव्यूह' एक समय खासा चर्चित रहा। स्थानीय लोगों ने तो उसके घटना क्रम और चरित्रों की पहचान भी कर ली। प्रसिद्ध उपन्यासकार देवेश ठाकुरजी के नेह बंधन में बँधे गोस्वामीजी एकाधिक बार मुंबई गए और मुंबई को कथाभूमि बनाकर 'सेतु' उपन्यास लिखा। बाद के उपन्यासों में 'हस्तक्षेप' ने लोगों का ध्यान खींचा, जिसमें पहली बार आदिवासी जीवन की विसंगतियाँ भी आईं। एक कहानी संकलन और आया। रेडियो-प्रहसनों के ध्वनि संकेतों की जगह रंग संकेत देकर दो व्यंग्य विनोदी नाटकों की किताब उन्होंने छपाई। उनका शोध-प्रबंध दो खंडों में छपा। शिक्षक-आंदोलन के क्रम में उन्होंने भी स्वैच्छिक गिरफ्तारी दी थी और हजारीबाग केंद्रीय धारा में कुछ समय बिताया था। उस अनुभव के आधार पर गोस्वामी जी ने एक किताब तैयार की- 'लौट कपाट के पीछे'। इसी प्रकार से (अब स्व.) अटल बिहारी वाजपेयी जी के प्रधानमंत्रीत्व काल में उनकी एक किताब आई थी- 'अटलजी के नाम एक खुला पत्र'। कहें कि राजनीति से अपनी अपेक्षाओं को उन्होंने इस किताब में दर्ज किया।

यह सब जो हो, मैं जब-तब गोस्वामी जी के निवास पर जाता, उनकी सौम्य शालीन, सुरूप, शिष्ट पत्नी के आतिथ्य का सुख उठाता। उनकी दो बेटियों में बड़ी एक बैंक में हिंदी अधिकारी है, जो कोलकाता में कार्यरत है, दो बच्चों की माँ है। उसके पति भी उसी बैंक में कार्यरत हैं। छोटी बेटि पिता-माता के साथ ही रहती है। विवाहित पुत्र एक स्थानीय

कॉलेज में शिक्षक है। गोस्वामी जी की बहू भी शालीन है। अपनी पौत्री पर गोस्वामी दंपति जान छिड़कते हैं। गोस्वामी जी के किसी काम में कहीं आपको बेतरतीबी या अव्यवस्था नहीं दिखेगी। उनकी लिखावट सुंदर है। वे आरेखन भी कर लेते हैं। उनके घर उनके अध्ययन कक्ष से भी उनकी सुरुचि का पता चल जाता है। वे अब प्रायः कम्प्यूटर पर ही लिखते हैं। हालांकि इधर लिखना-पढ़ना थम गया है, सक्रियता कम हो गई है।

कारण कुछ वर्ष बीते। एक सहित्यिक संस्था के द्वारा मुख्य अतिथि के रूप में आमंत्रित होकर वे डालटनगंज गए थे। वहाँ, लाउडस्पीकर के शोर से उन्हें मस्तिष्काघात लगा। जैसे-तैसे उन्होंने होटल में रात काटी। अगली सुबह मुँह-अँधेरे ही, पहली बस से अकेले रौंछी आए। श्री-व्हीलर से जैसे-तैसे अपने घर पहुँचे। सारे बच्चे, उनकी पत्नी तत्काल उपचार में लग गए। शहर के (बल्कि देश प्रसिद्ध) न्यूरो सर्जन डॉ. के. के. सिन्हा के यहाँ उन्हें ले गए। डॉक्टर ने पूरी जाँच की। औषधियाँ लिख दीं। कहा-साँरी, गोस्वामी जी! आपको फिर से क-ख से शुरू करना होगा। उन दिनों गोस्वामीजी ने बड़ी कठिनाई से मुझे बताया था कि उन्हें अपनी किताबों का नाम भी याद नहीं है कि वे अखबार की हेडलाइन को भी नहीं पढ़ सकते। गोस्वामी जी के आत्मबल, उनकी पत्नी-बच्चों की परिचर्या, डॉ. के. के. सिन्हा के निर्देश और औषधियाँ! गोस्वामी जी प्रायः पूर्ववत् हो गए, सिवा इसके कि अब उन्हें शोर बर्दाश्त नहीं होता। एक व्यक्तिगत समारोह में हम साथ थे तो वहाँ के शोर से घबराकर उन्होंने अपने सुपुत्र को निकटस्थ दवा-दुकान में भेजकर रुई मँगाई और दोनों कानों को उससे बंद कर लिया।

दिल से तो अब भी हम करीब हैं किंतु मैंने निवास बदल लिया है और फिर आयुजनित आलस्य। मिलना-जुलना कम हो पाता है। फोन पर भी पूरी बात करने में उन्हें थोड़ी दिक्कत होती है, सो संपर्क भी टूटा-टूटा-सा है। कोई दो महीने पहले मैं उनके निवास पर गया था। वे पूर्व की तरह उत्साह से मिले, प्रायः स्वस्थ और सामान्य ही लगे। लेकिन इधर सुनता हूँ, उनकी वह मस्तिष्काघात की बीमारी उन्हें थोड़ा परेशान कर रही है। ईश्वर उन्हें स्वस्थ रखें और शतायु करें।

एक दुर्घटना की याद न करूँ तो गोस्वामीजी से जुड़े बंधुता के तार को ठीक-ठीक नहीं बता पाऊँगा। तब भी मैं अपने पुराने निवास में ही था। मेरी सेवा निवृत्ति में मात्र एक महीना शेष था। (नवंबर, १९९७ में मैं सेवा निवृत्त हो गया, तब साठ ही सेवा निवृत्ति की उम्र थी।) गोस्वामी जी की सेवा निवृत्ति भी डेढ़-दो महीने बाद होनेवाली थी। मेरी पत्नी (जो अब नहीं हैं) अपनी बड़ी बेटी के निवास पर अकेली ही गईं। (वह थोड़ी दूर के एक मुहल्ले में थी) सिटी बस से वे उतरतीं और एक-दो कदम ही बढ़ाए थे कि एक स्वीडिंग स्कूटर ने उन्हें धक्का मार दिया। उनके बायें पैर की घुटने की हड्डी का एक टुकड़ा टूट कर भीतर ही खिसक गया था। खैर चिकित्सा चली। इसके एक आधा दिन

के भीतर ही गोस्वामी जी की पत्नी रिक्शे से किसी पास के मंदिर में पूजा के लिए जा रही थीं। उनका रिक्शा दुर्घटनाग्रस्त हो गया। वे गिर पड़ीं। उनके दायें हाथ की कलाई में और एक और अन्य स्थल पर उसी हाथ में फैंक्चर हो गया। उनका प्लास्टर एक अन्य अस्पताल में हुआ, मेरी पत्नी का इलाज अन्य सर्जन की देख-रेख में। सहकर्मी मित्रों ने खेद जताया और हल्की चुटकी भी ली। यह है मित्रता। दोनों मित्रों की पत्नियाँ एक साथ ही जखमी हुईं। खैर।

दोनों महिलाओं के प्लास्टर कटे। दोनों अपने-अपने घर आईं। प्लास्टर से हड्डियों को जुड़वाने के बाद फिजियोथेरेपिस्ट की देखरेख में कुछ खास तरह की चिकित्सा लेनी होती है, कुछ व्यायाम करने होते हैं। श्रीमती गोस्वामी की चिकित्सा के लिए गोस्वामीजी ने एक कुशल फिजियोथेरेपिस्ट की तलाश की थी। श्रीमती गोस्वामी की कलाई में काफी सुधार था। उन्होंने मुझे भी उसी फिजियो से संपर्क करने को कहा। मैं मिला। फिजियो ने घर आने में असमर्थता बताई और रोगी को ही उनके चिकित्सा-कक्ष तक लाने को कहा। श्रीमती गोस्वामी को इस बात की जानकारी हुई तो उन्होंने फोन पर उस फिजियो की लानत मलामत की। कहा-पैर से जो लाचार हो गई हैं, वे आपके क्लिनिक तक कैसे जाएंगी? आप कैसे हृदयहीन चिकित्सक हैं। उनके इस प्रेमपूर्ण उलाहने का असर। फिजियो मेरे निवास पर आने लगा। पत्नी की टाँग जैसे-तैसे चलने लायक हो गई। श्रीमती गोस्वामी भी जखमी हाथ से जलपात्र उठाने की ताकत पा गईं।

गोस्वामीजी के बारे में कुछ खास बातें बतानी हों, तो कहूँगा, वे अत्यंत संकल्पवान हैं, जिद की हद तक। वे अकेले संघर्ष करने और जीतने का जज्बा रखते हैं। यों ये अत्यंत शांत स्वभाव के हैं। सीधे-सादे, प्रदर्शन से दूर अकृत्रिम। यह सादगी उनके संपूर्ण लेखन में भी आपको मिलेगी। उनका लेखन पेचीदा नहीं होता। वक्तव्यता भी सीधी-सीधी होती है। रिश्ते निभाना वे जानते हैं। बातें गढ़ना, झूठ बोलना उनकी फितरत में नहीं। दुहराता हूँ, मेरे इस मित्र को प्रभु सुस्वास्थ्य के साथ शतायु करें।

एस.आइ.जी., ८२ सहजानंद चौक
हरयू हाउसिंग कॉलोनी, राँची-८३४००२



आज़ादी के बाद का इतिहास टटोलते एक संवेदनशील मन के चुभते दंश :

डॉ. सतीश पांडये

‘अटलजी के नाम एक धारावाहिक पत्र’ प्रख्यात कथाकार श्रवण कुमार गोस्वामी द्वारा लिखा गया अड़तालीस कड़ियों वाला एक लंबा पत्र है। वास्तव में यह एक संवेदनशील रचनाकार द्वारा अपने समय का इतिहास लिखने का सार्थक प्रयास है, जिसे उन्होंने तत्कालीन प्रधानमंत्री एवं अपने समय के एक संवेदनशील नेता अटल बिहारी वाजपेयी के नाम पत्र के रूप में लिखा है। सन् २००० में प्रकाशित इस लंबे पत्र में आज़ादी के बाद के बावन वर्षों में घटित घटनाओं से बेचैन एक संवेदनशील व्यक्ति का आक्रोश व्यक्त हुआ है किंतु लेखक को पता है कि हिंदी के गुटबाज साहित्यिकों द्वारा इसे भी हाशिए पर डाला जा सकता है। अटल बिहारी को संबोधित करने के कारण स्वतंत्र भारत में की गयी इतिहास की गलतियों पर प्रश्न उठानेवाले रचनाकार के प्रयास को दक्षिणपंथी करार दिए जाने की पूरी संभावना भी है। इसीलिए सबसे पहले लेखक ने इस संबोधन का स्पष्टीकरण किया है। उसके अनुसार आज़ादी मिलने के बाद दो बड़ी घटनाएँ हुईं। एक तो यह कि ‘हम न देश के प्रति वफादार रह सके और न महेश के प्रति।’ दूसरे आज का सबसे बड़ा महेश बन गया है-पैसा। नए महेश ने पुराने महेश का भी अपनी काली कमाई में शेयर तय कर दिया है। लेखक की पीड़ा यह है कि जिन्हें देश की रखवाली का जिम्मा दिया गया था, उन्होंने ही देश को खूब लूटा। उनकी लूट के सामने मोहम्मद गजनी, नादिरशाह और अंग्रेजों की लूट भी फीकी पड़ गयी। और भी हजारों गम हैं, जिन्हें एक आदमी के रूप में वह देखता-सहता रहा है। इस बेचैनी को वह किसी के सामने प्रकट करना चाहता था। पहले लोग गांधी जी को पत्र लिखकर ऐसी बेचैनी प्रकट करते थे। अब वे भी नहीं रहे। विकल्प रूप में उसने अटलबिहारी वाजपेयी का नाम चुना और एक नई विधा तलाशी धारावाहिक पत्र की विधा।^१

लेखक की दृष्टि इतिहास के कुछ विवाद-ग्रस्त पक्षों की ओर गयी है। इसीलिए उसने सारे जहाँ से अच्छा के अमर गायक इकबाल द्वारा पाकिस्तान का स्वप्न देखने और सारे जहाँ को मुस्लिम बनाने के सपने का उल्लेख किया है-‘सारे जहाँ से अच्छा हिंदोस्ताँ

हमारा' का गान करने वाले इकबाल पाकिस्तान जाकर यह कहने लगे थे कि-

चीन अरब हमारा हिंदोस्ताँ हमारा, मुस्लिम हैं हम सारा जहाँ हमारा।

इसी संदर्भ में गोस्वामीजी ने देश को अलग-अलग हिस्सों में बाँटे जाने का भी जिक्र किया है। उनकी पीड़ा यह है कि भौगोलिक विभाजन ने लोगों के हृदयों को भी बाँट दिया। अब बिहारी, पंजाबी, कश्मीरी, मराठा, बंगाली, गुजराती, उड़िया, असमिया लोग मिल जाएँगे। ब्राह्मण, राजपूत, यादव आदि भी मिल जाएँगे लेकिन भारतीय कोई नहीं मिलेगा। लेखक की चिंता है कि आखिर हिंदुस्तान कहाँ गायब हो गया? क्या उसे आज़ादी ने लील लिया? यहीं वे महात्मा गांधी को याद करते हैं, जो १५ अगस्त १९४७ को जश्न-ए-आज़ादी में शरीक नहीं हुए बल्कि सांप्रदायिक दंगों से जूझने के लिए कलकत्ता के हैदरी हाउस में मौजूद थे। आज़ादी के लिए अंग्रेजी सत्ता के खिलाफ जो लोग लड़ रहे थे, वे ही सत्ता पाने के लिए बेचैन थे। उनकी यह बेचैनी देखकर ही गांधी जी ने कहा था कि कांग्रेस को समाप्त कर देना चाहिए लेकिन सत्ता लोलुप लोगों ने उनकी बात नहीं सुनी। गांधीजी ने यह भी कहा था कि उन्हें शासन की बागडोर इसलिए सौंपी गई है कि उस गरीब आदमी की सेवा करें जो देहात में बैठा है। लेकिन सत्ता में बैठनेवालों ने गरीब आदमी को भुला दिया और 'बूढ़े की बकवास' पर ध्यान देना बंद कर दिया। इसीलिए गोस्वामी जी इसे स्वतंत्रता की भ्रूणहत्या मानते हैं।

इन्होंने एक महत्वपूर्ण प्रश्न संविधान की पहली पंक्ति को लेकर उठाया है जिसमें लिखा गया है 'इंडिया दैट इज भारत...' आज जिस तरह विभिन्न शहरों के नाम परिवर्तन को लेकर राजनीति की जा रही है, गोस्वामीजी के यह प्रश्न उठाने पर उन्हें दक्षिणपंथी घोषित कर दिया जाए तो कोई आश्चर्य नहीं होगा किंतु उनके प्रश्न उठाने के पीछे के तर्क पर गौर करना आवश्यक है। इनका मानना है कि 'इंडिया' संज्ञापद उस भूखंड के लिए प्रचलित था, जिसमें पाकिस्तान और बांग्लादेश तीनों थे। अतः १५ अगस्त १९४७ को जिस भूखंड को आज़ादी मिली, उसे इंडिया कहते रहने का कोई ठोस आधार उन्हें दिखाई नहीं देता बल्कि यह उस मानसिक दासता को भी ध्वनित करता है, जिससे मुक्ति पाने के लिए हम संघर्ष करते रहे।

इनकी आपत्ति इस बात को लेकर भी है कि भारतीय संविधान ने अपने देश को इंडिया भी मान लिया और भारत भी। एक राष्ट्र के नामकरण में ऐसी असावधानी क्यों? आगे चलकर वे स्पष्ट करते हैं कि 'गांधीबाबा के सत्तालोलुप चेलों ने इस कथित इंडिया के भी दो टुकड़े कर दिए-इंडिया और भारत। इंडिया वह है, जो शहरों और महानगरों का समूह है और भारत वह है, जो गांवों का समूह है। यह भारत अर्थात् गाँव हमेशा से उपेक्षित ही रहा है।' इसीलिए इन्होंने लिखा है कि- 'इंडिया और भारत केवल दो शब्द ही नहीं हैं। ये केवल संज्ञापद नहीं हैं। ये क्रियापद भी हैं। इसी इंडिया क्रियापद ने देश का

बड़ा अहित किया है। इसने इसी भारत भूमि पर एक ऐसे वर्ग को पैदा कर दिया है, जिसे देश के वर्तमान और भविष्य दोनों की कोई चिंता नहीं है। मैं यह कहने का जोखिम भी अपने ऊपर लेने को तैयार हूँ कि किसी सीमा तक ये कथित इंडियन इस देश को अपना देश ही नहीं मानते। इसलिए यह बहुत जरूरी है कि जिस तरह हमने ब्रिटिश हुकूमत से मुक्ति प्राप्त की है, उसी तरह उनकी इंडिया संज्ञा से भी अविलंब मुक्ति प्राप्त करते। इस देश का नाम केवल भारत हो।²

भारतीय संविधान के अनुच्छेद १५ में सबको समान अधिकार दिए गए हैं, मगर समानता की यह अवधारणा उस समय खंडित हो जाती है, जब एक संप्रदाय विशेष के व्यक्तिगत अधिकार की बात सामने आ जाती है। यदि किसी संप्रदाय के मामले में व्यक्तिगत कानून को मान्यता दी जाती है तो यह संविधान की समानता के प्रावधान का स्पष्ट उल्लंघन है और संप्रदाय विशेष को अन्य संप्रदायों की तुलना में विशेषाधिकार प्रदान करता है। इस पर्सनल लॉ को इन्होंने चोर दरवाजा माना है जिसके द्वारा विशेष संप्रदाय को अनेक विवाह की छूट है। दूसरी ओर कोई नागरिक दो विवाह कर लेता है तो सरकार उससे उसकी नौकरी अगले ही दिन छीन लेती है।

लेखक ने सत्ता में बैठे लोगों को याद दिलाने के लिए गांधीजी के इस कथन को बार-बार दुहराया है कि 'आप लोगों को शासन की बागडोर इसलिए सौंपी गई है कि आप उस गरीब आदमी की सेवा करें जो दूर देहात में बैठा है।' साथ ही उसने इस बात पर अफसोस भी व्यक्त किया है कि नेहरू के समय से ही गांधी की इस बात की उपेक्षा की जाने लगी थी। इसका कारण यह था कि आजादी के बाद के सत्ताधारियों को ग्रामीण भारत से कोई लगाव नहीं था। इसके मूल में आधुनिक भारत के निर्माता कहे जानेवाले नेहरू जी की मानसिक बनावट एवं बुनावट थी। बतौर लेखक 'यह सच है कि पंडित नेहरू का जन्म भारत में हुआ था, परंतु उनकी पूरी शिक्षा-दीक्षा इंग्लैंड में हुई थी। वह जन्मना इंग्लैंड के निवासी तो नहीं थे मगर वह किसी भी अंग्रेज से कम अंग्रेज नहीं थे। उनके मस्तिष्क पर पूरी तरह इंग्लैंड एवं यूरोप छाए हुए थे।'³ (पृ. २५)

गोस्वामी जी का मानना है कि शास्त्रीजी के प्रधानमंत्री काल को छोड़ दें तो जितने भी प्रधानमंत्री हुए उनको भारत की वास्तविक आवश्यकताओं की पहचान नहीं थी। भारत को भी यूरोप बनाने के लिए पं. नेहरू ने औद्योगीकरण का जाल बिछाना शुरू किया लेकिन सार्वजनिक क्षेत्र में खोले गए ये अधिकांश उद्योग सफेद हाथी ही प्रमाणित हुए। इसके अलावा इनका लघु एवं कुटीर उद्योगों पर प्रतिकूल असर पड़ा। आगे चलकर इंदिरा गांधी ने भारतीय लोकतंत्रात्मक गणराज्य को धर्मनिरपेक्ष और समाजवादी बनाने का प्रयास किया लेकिन यह शब्दजाल ही प्रमाणित हुआ। इसके बाद राजीव गांधी ने आधुनिक टेक्नॉलॉजी का आयात किया, जिसे नरसिंहराव एवं मनमोहन सिंह ने वैश्वीकरण के

दौर में आगे बढ़ाया। बेशक इसके कई फायदे हैं और होंगे लेकिन गोस्वामीजी के मन में वैश्वीकरण के नाम पर अमेरिकीकरण के खतरों की घंटी बजना स्वाभाविक लगता है। वे ठीक ही कहते हैं कि क्या बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ भारत की आर्थिक स्थिति मजबूत करने और देश की बेकारी, अशिक्षा, कुशासन आदि को दूर भगाने आयी हैं? उनका यह कहना भी विचारणीय है कि सबसे पहले सिर्फ एक ही विदेशी व्यापार करने की इजाजत माँगने आया था और उसके वंशधरों को निकालने में हमारी कितनी पीढ़ियों मर खप गयीं। इस बार तो हमने असंख्य को आमंत्रण देकर बुलाया है। इसलिए हमें सजग रहने की जरूरत है। वस्तुतः गोस्वामी जी देश की प्रगति के नाम पर एक वर्ग विशेष की नहीं बल्कि आम आदमी की प्रगति देखना चाहते हैं।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में संविधान की दुहाई देनेवालों से गोस्वामीजी ने सीधा सवाल किया है कि संविधान द्वारा राजभाषा घोषित होने के बावजूद कौन-सी मजबूरियाँ हैं, जिसके कारण हम राजभाषा का मसला हल नहीं कर पा रहे हैं। गांधी के समर्थकों ने ही गांधी के उस आशय को क्यों नहीं समझा जब गांधीजी ने सीधे-सीधे पत्रकारों से कहा था कि 'दुनिया से कह दो कि गांधी अब अंगरेजी भूल गया है।' राजभाषा के संदर्भ में राजनेताओं की नीयत में खोट है नहीं तो देश को जोड़नेवाली भाषा को तोड़नेवाला बताकर हिंदी समर्थकों और हिंदी विरोधियों के बीच देश व्यापी झगड़ा खड़ा नहीं कराया जाता। इसी तरह का षडयंत्र देवनागरी लिपि के साथ भी हो रहा है। यह दुर्भाग्य की बात ही है कि सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक लिपि होने के बावजूद इसकी उपेक्षा की जा रही है।

प्रजातांत्रिक व्यवस्था में चुनाव की अहम भूमिका होती है, लेकिन भारत में चुनाव के समय धनबल और बाहुबल का महत्व बढ़ता जा रहा है। आज हर प्रत्याशी चुनाव में निवेश करता है। अतः बाद में उसे वसूल भी करता है। ऐसे में धंधेबाज लोग विधायिका में पहुँचने लगे हैं। इन्होंने न्यायपालिका को भी बालू की भीत पर खड़ी माना है। यहाँ भी धन का प्रभाव और राजनीतिक हस्तक्षेप बढ़ा है। इसके अतिरिक्त न्यायपालिका की एक अन्य विसंगति की ओर भी इन्होंने संकेत किया है कि न्यायकर्ता और अधिवक्ता जिस भाषा में काम करता है, उस भाषा को न वादी जानता है और न प्रतिवादी। यहाँ अनुवाद का महत्व अधिक थे। साथ ही अब यह माना जाने लगा है कि भारतीय न्याय व्यवस्था खर्चीली, उबाऊ और समय खाने वाली है। इन्होंने सीबीआई की भूमिका पर भी प्रश्नचिह्न खड़ा किए हैं।

प्रजातंत्र का एक और मजबूत पाया है कार्यपालिका लेकिन यह भी अब घुनता जा रहा है। इन्होंने यह संकेत किया है कि उच्च योग्यता प्राप्त अधिकारी चुनाव जीत कर आए अल्पशिक्षित अपराधी चेहरों के आदेश का पालन करने के लिए बाध्य होते हैं। कई बार उन्हें अपमानित भी होना पड़ता है। हमारे देश में प्रजातांत्रिक व्यवस्था है लेकिन

आजादी के बाद का इतिहास गवाह है कि एक पार्टी ने अपने बलिदानों की गवाही देते हुए लोगों की भावनाओं को ही अधिक भुनाया है जबकि वह पार्टी जनतांत्रिक ढाँचे के बदले परिवारवाद और वंशवाद को बढ़ावा देती रही है और अन्य लोगों ने इसे इतनी सहजता से स्वीकार लिया है जैसे हम राजतंत्र में रह रहे हों। लेखक को यह स्थिति बार-बार कचोटती है। गोस्वामीजी ने राजनीति में व्याप्त उन तमाम बुराइयों की भी ओर संकेत किया है जो लगातार बलवती होती जा रही हैं। उनका स्पष्ट संकेत है कि नेतागिरी एक नए उद्योग के रूप में पनप रहा है। बड़े नेता ही नहीं, उनके पिछलगुए भी देशसेवा के नाम पर लूटने की खुली छूट पा गए हैं। यह उद्योग इतना उर्वर हो गया है कि हत्यारा-बलात्कारी, कालाबाजारी करने वाला व्यापारी यहाँ तक कि घोषित अपराधी भी इस ओर दौड़ लगाने लगा है और वे सफल भी हो रहे हैं। राजनीति का यह विकृत रूप योग्य एवं ईमानदार व्यक्ति को कुंठित करता जा रहा है। इस तरह आज राजनीति देशसेवा का साधन नहीं साध्य बन गई है।

यह अक्सर कहा जाता है कि आजादी और उसके बाद के इतिहास को अपने ढंग से तोड़-मरोड़ कर लिखा गया है। यह बहुश्रुत है कि देश को आजादी कांग्रेस और महात्मा गांधी ने दिलायी लेकिन इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता है कि और भी लोग थे, जिन्होंने आजादी के लिए बलिदान दिया था। इनमें से ही एक थे नेताजी सुभाषचंद्र बोस। गांधीजी ने अंग्रेजों को यदि भीतर से चुनौती दी तो बाहर से नेताजी ने जापानी आक्रमण के रूप में उनके साथ उसी भाषा का इस्तेमाल किया, जिसे समझने के वे अभ्यस्त थे। इसके अतिरिक्त आज भारत का जो मानचित्र हमारे सामने है, इसे सरदार पटेल ने संभव बनाया है। जहाँ-जहाँ नेहरू बेलगाम हुए, देश की जमीन हाथ से निकल गई। एक बार आजाद कश्मीर बन गया और दूसरी बार चीन ने भारत का एक बड़ा भू भाग हड़प लिया। अतः आजादी का पूरा श्रेय सिर्फ गांधीजी और राजनीतिक दल विशेष को नहीं दिया जा सकता। इसी तरह श्रवण कुमार गोस्वामी ने धर्मनिरपेक्षता, धर्मांतरण और विदेशी धन तथा आतंकवाद जैसे संवेदनशील विषयों पर भी अपने विचार रखे हैं। धर्मनिरपेक्षता एक हौवा बना हुआ है। एक विशिष्ट समुदाय को तुष्ट करते हुए एक दल जहाँ अपने को धर्मनिरपेक्ष घोषित करता है, वहीं एक ऐसे दल को सांप्रदायिक घोषित कर दिया जाता है, जो राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता को सर्वोपरि मानता है लेकिन एक बड़े समुदाय के हितों की रक्षा के लिए संकल्पित है। इस प्रकार पता ही नहीं चलता कि किसे धर्म निरपेक्ष कहा जाए और किसे नहीं क्योंकि असली धर्मनिरपेक्षता तो किसी में नहीं है। धर्मनिरपेक्षता का अर्थ धर्महीनता नहीं होता बल्कि सभी धर्मों का बराबर सम्मान करना धर्मनिरपेक्षता है। इसी तरह इनके अनुसार धर्मांतरण देश के लिए एक क्षयरोग की भाँति घातक है। चाहे इस्लामीकरण हो या ईसाईकरण या अन्य कोई धर्म अपनाना एक धर्मनिरपेक्ष देश में यह कार्य आसानी से हो जाता है। लेखक का मानना है कि धर्मांतरण

के सामाजिक, आर्थिक कारणों के अतिरिक्त सामाजिक उपेक्षा भी प्रमुख कारण होता है। इसीलिए आदिवासियों और जिन्हें अछूत माना जाता रहा, उनका धर्मांतरण अधिक हुआ है। इनका विचार है कि धर्मांतरण को संज्ञेय अपराध के दायरे में लाना चाहिए और जब न्यायालय पूरी तरह संतुष्ट हो जाय कि धर्मांतरण किसी दबाव, प्रलोभन या धमकी के कारण नहीं किया जा रहा है, तभी धर्मांतरण की अनुमति दी जाए। ऐसा इन्होंने इसलिए माना है कि विदेशी धन भी धर्मांतरण के लिए प्रयुक्त होता रहा है। विदेशी धन के बल पर कहीं भी विस्फोट करा दिया जाता है। यह धन नई पीढ़ी को आत्महीन और देश-विरोधी भी बना देता है। यह विदेशी धन एक विष कन्या है, जो ऊपर से आकर्षक है मगर इसका प्रभाव विनाशक है।

अनेक स्थानों पर इन्होंने भारत-पाक संबंधों और जम्मू-कश्मीर तथा संविधान के अनुच्छेद ३७० जैसे संवेदनशील विषयों पर भी अपनी बेबाक टिप्पणी की है, जिस पर लोग अक्सर बचकर निकल जाना चाहते हैं। इनका मानना है कि इस समस्या को सिर्फ हिंदू-मुसलमान की समस्या के रूप में नहीं बल्कि राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से देखा जाना चाहिए।

प्रजातंत्र के नाम पर जिस राजतंत्र को आज़ाद भारत सहता रहा है, उसकी जड़ों का सटीक मूल्यांकन भी इन्होंने किया है। चुनाव की भ्रष्ट पद्धति, न्यायपालिका में राजनीतिक हस्तक्षेप, कार्यपालिका में लगे घुन, निर्गुट विदेशनीति के तहत राष्ट्रीय हितों को भुलाकर निजी चौधराहट बनाए रखने और वाहवाही लूटने की लालसा, अल्पसंख्यक वर्ग की रक्षा का ढोंग, पुलिस की अपराधी भूमिका आदि अनेक संदर्भों में व्याप्त असंगतियों को बेबाकी से उजागर करते हुए लेखक ने यह मूल चिंता प्रकट की है कि आज हम मूल्यहीनता के ऐसे दौर से गुजर रहे हैं, जहाँ राष्ट्र की चिंता किसी को नहीं है। विदेशी नागरिकों को उच्च राजनीतिक पदों पर आसीन होने देने संबंधी लेखक के विचार भावी खतरों के प्रति आगाह करनेवाले हैं। लेखक ने शिक्षाजगत में राजनीति के दखल पर चिंता व्यक्त करते हुए कुछ प्रमुख राजनीतिक लोगों के नामों के आधार पर विश्वविद्यालयों के नामकरण करने का मुद्दा भी उठाया है। ऐसी गलत परंपरा पूरे विश्व में कहीं भी नहीं हो।

कुछ अखबारों की कतरनों का उपयोग करते हुए लेखक ने यह सवाल भी उठाया है कि जिन वीर योद्धाओं ने अपने जान की बाजी लगा दी और उन्हें मरणोपरांत परमवीर चक्र मिला, क्या उनके परिवार के प्रति देशवासियों और सरकार का कोई दायित्व नहीं है? ये स्थितियाँ कितनी मारक लगती हैं जब यह पता चलता है कि अब्दुल हमीद और अल्बर्ट एक्का जैसे वीरों का परिवार मारा-मारा फिर रहा है। अंत में 'तीन और तेरह की कहानी' कहते हुए लेखक ने सत्ता की लड़ाई के 'फाउल प्ले' की ओर संकेत किया है, जिसके तहत बार-बार सरकारें गिरायी गयीं और देश पर चुनाव का बोझ लादा गया। उस

समूचे घटनाक्रम से जिस स्वार्थपूर्ण राजनीति की शुरुआत हुई उसने समूची संवैधानिक व्यवस्था पर ही प्रश्नचिह्न लगा दिया है।

वस्तुतः यह धारावाहिक पत्र एक नई विधा में अपने समय का सच्चा इतिहास बयान करता है। एक संवेदनशील रचनाकार की कलम से निकली यह कृति इतिहासकारों और तथाकथित प्रतिबद्ध समीक्षकों की दृष्टि में चाहे जैसी भी हो लेकिन विगत वर्षों में आमजन और उनके हितों के लिए प्रतिबद्ध बुद्धिजीवियों को इन सवालों से जूझने और आज की स्थितियों पर सोचने के लिए विवश अवश्य करती है। वैचारिक रूप में सहमत-असहमत हुआ जा सकता है लेकिन ये वे समस्याएँ हैं जिनसे रू-ब-रू हुए बिना भारत के भावी स्वरूप का निर्माण नहीं किया जा सकता।

संदर्भ सूची :

१. अटलजी के नाम एक धारावाहिक पत्र, पृष्ठ-११
२. वही, पृ. १८
३. वही, पृ. २५

अध्यक्ष, हिंदी विभाग,
के.जे. सोमैया कॉलेज ऑफ आर्ट्स एंड कामर्स,
विद्याविहार, मुंबई-७७
■ ■ ■

सृजनशीलता का वह पक्ष, जिसने मुझे गोस्वामी जी के उपन्यासों पर लिखने के लिए प्रेरित किया

रतन वर्मा

आलोचना मेरी विधा कभी नहीं रही और न ही मैं खुद को समीक्षक या चिंतक मानता हूँ। फिर भी गोस्वामीजी के उपन्यासों ने कुछ इतना बेचैन कर दिया कि जितना, जो कुछ समझ पाया, अभिव्यक्त कर डालना मजबूरी बन गई मेरी। मेरे लिए किसी लेखक की कृतियों पर किसी सधे आलोचक की तरह कुछ विचार कर पाना अपनी सीमाओं के अतिक्रमण जैसा ही है। लेकिन अभिव्यक्ति की छटपटाहट कुछ-न कुछ परिणाम तो देगी ही-यही सोचकर मैंने उनके उपन्यासों में सृजनशीलता के विविध पक्षों पर विचार करना शुरू किया।

कथानक की विविधता

गोस्वामीजी के एक उपन्यास से दूसरे उपन्यास तक की यात्रा में यह पाठकीय आश्वस्ति प्रबल होती जाती है कि उनके एक उपन्यास का कथानक दूसरे से भाषा, कथ्य या शिल्प, कहीं से भी मेल खाता नजर नहीं आता। अपने प्रथम उपन्यास 'जंगलतंत्रम' में वे आजादी के तुरंत बाद की उन परिस्थितियों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं, जिस गंगोत्री से भारतीय राजनीति, प्रशासनतंत्र और पूँजीवाद इन तीनों की चक्की के मध्य पिंसी जानेवाली जनता की कथा का प्रारंभ होता है। अपने दूसरे उपन्यास 'सेतु' में वे फिल्म उद्योग से जुड़ी उस सच्चाई को उजागर करते नजर आते हैं, जहाँ संवेदना या प्रेम महज ऊँचाई तक पहुँचने के लिए साधन मात्र होता है। इस उपन्यास की नायिका, खुद से दूनी उम्र के अभिनेता से महज इसलिए शादी करती है ताकि उस ख्याति प्राप्त अभिनेता को सीढ़ी बनाकर वह उस ऊँचाई तक पहुँच सके, जिसे उद्देश्य बनाकर उसने फिल्म नगरी में प्रवेश किया था। इस उपन्यास में तो यहाँ तक दर्शाया गया है कि खुद नायिका का पिता अपनी पुत्री को उस दूनी उम्र के ख्याति प्राप्त अभिनेता से शादी करके अपने कैरियर और जीवन को सुरक्षित कर लेने की सलाह देता है। इस प्रकार पहले उपन्यास और दूसरे उपन्यास के कथानक में कहीं कोई मेल न होना लेखक के अनुभव

संसार के दायरे को एक विस्तृत फलक प्रदान करता-सा प्रतीत होता है।

उनका तीसरा उपन्यास 'भारत बनाम इंडिया' है जिसमें भारत को दो भागों में बाँटकर प्रस्तुत किया गया है। लेखक भारत के गाँवों को मूल भारत मानता है, जो भूख, लाचारी, बीमारी, अशिक्षा, बाढ़-सुखाड़, राजनीतिक लुपेनाइजेशन (लुच्चागिरी) से इस तरह आक्रांत है कि उसका मूल्यांकन अलग से काटकर ही किया और उस पर आँसू बहाया जा सकता है; जबकि उसी देश का दूसरा हिस्सा पूरी तरह खुशहाल है, जिसे लेखक ने इंडिया नाम दिया है। गुलाम भारत को अंग्रेजों ने इंडिया नाम दिया और अंग्रेजियत में तब्दील करने की कोशिश की। चूँकि अंग्रेज शासक वर्ग के थे, इसलिए उन्हें सुख-सुविधा की भी जरूरत थी। इसी के मद्देनजर उन्होंने शहरों के विकास पर पूरा ध्यान दिया, गाँवों पर इसलिए भी नहीं कि यदि ग्रामीण लोग विकसित हो गए तो शासन वे किस पर करेंगे। बाद में चलकर जब देश आजाद हुआ तो हमारे शासकों ने भी अंग्रेजों के ही ढर्रे को अपनाया और खुद का ध्यान शहरों पर तो केंद्रित रखा, पर गाँवों की उपेक्षा करते रहे। फलस्वरूप गाँव पिछड़ते चले गए और शहर उत्तरोत्तर विकास करते रहे। लेखक का यह कथानक सिर्फ अछूता नहीं, बल्कि गाँवों के दर्द को अत्यंत ही बारीकी और मार्मिकता से स्पर्श करता है।

चौथा उपन्यास 'दर्पण झूठ ना बोले' समाज को आईना दिखाती एक प्रतीकात्मक कृति है, जिससे भारतीय राजनीति, प्रशासनतंत्र और पूँजीतंत्र का कुत्सित चेहरा पूरी तरह पाठकों के समक्ष बेपर्दा हो जाता है। ऐसा माना जाता रहा है कि 'उद्योग' को विषय बनाकर कोई सफल उपन्यास नहीं लिखा जा सकता। श्रवणकुमार गोस्वामी ने राहु-केतु लिखकर इस मिथक को सफलतापूर्वक तोड़ा है। स्वतंत्रता के पहले देश के प्रायः सभी उद्योग निजी क्षेत्र में ही थे। स्वतंत्रता के बाद सार्वजनिक क्षेत्र में अनेक बड़े-बड़े कारखानों की स्थापना की गई, लेकिन वे अपेक्षाओं की कसौटी पर खरे नहीं उतर सके। भ्रष्टाचार तथा अनावश्यक सरकारी हस्तक्षेपों के कारण ये उद्योग पिछड़ते ही चले गए। राहु-केतु उन सभी कारणों को उद्घाटित करता है जिसके कारण सार्वजनिक कारखानों का उत्पादन 'घाटा' बनता चला गया।

छठें उपन्यास 'मेरे मरने के बाद' का पूरा कथानक एक लेखक के जीवन की त्रासदी पर प्रकाश डालता है। छद्म लेखक और बुद्धिजीवी समाज जीते जी तो समर्पित लेखकों के विरुद्ध प्रपंच रचता ही रहता है, उसके मरने के बाद भी उसके विरुद्ध राजनीति करने से बाज नहीं आता। बल्कि यदि उसे उस लेखक के नाम पर ट्रस्ट बना लेने अथवा उसकी कृतियों को अपने संपादन में पुस्तक रूप दे देने से आर्थिक लाभ नजर आता हो तो लेखक से लाख विरोध के बावजूद उसके जीवनकाल में या उसके मरने के बाद भी उसे वह सब करने में कोई संकोच नहीं होता।

सातवाँ उपन्यास 'चक्रव्यूह' विश्वविद्यालयों में व्याप्त भ्रष्टाचार और शिक्षकों के भ्रष्ट से भ्रष्टतम हो चुके आचरण को पर्त दर पर्त उद्घाटित करता एक अनूठा उपन्यास है। हालाँकि विश्वविद्यालय कैम्पस पर चक्रव्यूह से पूर्व भी अनेक उपन्यास लिखे जा चुके हैं, लेकिन इस उपन्यास में गोस्वामीजी ने जिस ईमानदारी से यथार्थ स्थितियों का क्रमवार विवरण तथा चरित्रों का चित्रण प्रस्तुत किया है, उससे आज की विश्वविद्यालयीन तथा महाविद्यालयीन व्यवस्था का कुत्सित रूप पूर्णतः उभरकर सामने आ जाता है।

आठवाँ उपन्यास 'एक टुकड़ा सच' एक विक्रय कर अधिकारी के माध्यम से ब्यूरोक्रेसी के भ्रष्टतम रूप का पूरा कच्चा चिट्ठा है। इस उपन्यास का दूसरा पक्ष यह है कि आज का बौद्धिक वर्ग चाहे कितना भी खुद को आदर्शवाद के लबादे में छुपाकर रखे लेकिन आदर्शवादी या ईमानदार वह तभी तक बना रहता है, जब तक उसे भ्रष्ट बनने का अवसर नहीं मिलता। आज आमतौर पर यह देखा जाता है कि अधिकारी वर्ग खुद को तो पूरी तरह नैतिक प्रदर्शित करते रहते हैं, लेकिन अपनी पत्नियों या मित्र रिश्तेदारों के माध्यम से हर उन काले कारनामों को अंजाम देते रहते हैं, जिसका खामियाजा हर स्तर पर समाज को भुगतना पड़ता है।

नौवाँ उपन्यास 'आदमखोर' अमानवीयता की ऐसी दास्तान प्रस्तुत करता है, जहाँ इंसान अपने छोटे से स्वार्थ की पूर्ति के लिए भी किसी आदमखोर का रूप अख्तियार कर लेने में कोई कोताही नहीं बरतता। 'केंद्र और परिधि' उपन्यास आज की भौतिकवादी सोच और व्यक्तिवादी संस्कृति पर परवान चढ़ते टूटते रिश्तों की कहानी है, जहाँ माँ, बाप, भाई, बहन अपने पराये, सारे रिश्ते अर्थ की कसौटी पर तौलकर तय किए जाते हैं। शहरी चकाचौंध में गाँव किस तरह उपेक्षित होते जा रहे हैं, इसका भी अत्यंत ही स्वाभाविक दस्तावेज है यह उपन्यास।

'हस्तक्षेप' उपन्यास में लेखक ने समाज के कुछ सफेदपोशों के द्वारा आदिवासियों के आर्थिक, मानसिक और दैहिक शोषण तथा गैर सरकारी संस्थानों के भ्रष्ट आचरण का अत्यंत ही जीवंत चित्रण किया है।

गोस्वामीजी का बारहवाँ उपन्यास है 'कहानी एक नेताजी की'। इस उपन्यास का केंद्र एक ऐसा नेता है, जिसका उद्भव गाँव के एक अत्यंत ही दलित समाज से होता है मगर नेता बनने के बाद वह भ्रष्टाचार की पराकाष्ठा फलाँगता हुआ एक निरंकुश शासक जैसा रूप अख्तियार कर लेता है। यह उपन्यास आद्योपांत एक व्यंग्य उपन्यास है। स्पष्ट है कि कथानक के स्तर पर उनका एक उपन्यास दूसरे से कहीं से भी मेल नहीं खाता। कथानकों का यह वैविध्य देश समाज की उन सभी विसंगतियों और विकृतियों का स्पर्श करता है, जिससे पूरा मानव समाज आक्रांत है।

शिल्प-वैविध्य

किसी भी कथाकार-उपन्यासकार के समग्र मूल्यांकन में यह बात खासतौर पर ध्यान देने योग्य होती है कि कहीं लेखक कथानक या शिल्प के स्तर पर खुद को दुहरा तो नहीं रहा। आमतौर पर कई सारे प्रतिष्ठित और नए लेखक भी इस दुहराव की स्थिति से खुद को बचा नहीं पाते। कथानकों के स्तर पर खुद को बचा भी ले जाएँ, मगर शिल्प के स्तर पर दुहराव से खुद को मुक्त नहीं रख पाते। इसका कारण मेरी समझ में यही आता है कि लेखक खुद को रचना से अलग न करके उस पर आरोपित होता चलता है। उसने शिल्प और भाषा का एक फ्रेम गढ़ लिया होता है, जिसमें अपने प्रत्येक कथानक को कसता चलता है। इस दृष्टि से देखें तो गोस्वामी जी अपने प्रत्येक कथानक को पूरी तरह स्वतंत्र छोड़ देते हैं ताकि उनके शिल्प, भाषा, शब्द आदि का चयन कथानकों के परिवेश और पात्र स्वयं करें। अपने प्रथम उपन्यास 'जंगलतंत्रम' से लेकर बारहवें उपन्यास 'कहानी एक नेताजी की' तक की यात्रा में ऐसा कहीं प्रतीत नहीं होता कि एक भी उपन्यास पर लेखक स्वयं को आरोपित कर रहा हो। 'जंगलतंत्रम' भले ही 'पंचतंत्र की कहानियों' के शिल्प की याद करा जाता हो, लेकिन जब तुलनात्मक दृष्टि से हम दोनों की परख करते हैं, तब पाते हैं कि उपन्यास की भाषा और शिल्प कथानक और परिवेश की माँग के अनुकूल है। वहीं 'सेतु' उपन्यास पढ़ते हुए लगता ही नहीं कि 'जंगलतंत्रम' और 'सेतु' दोनों उपन्यासों का लेखक एक ही व्यक्ति है। अर्थात् गोस्वामीजी इस ओर से पूरी तरह सचेत नजर आते हैं कि किसी भी नजरिये से खुद को दुहराने जैसी स्थिति न बन पाए। वैसे, जिस लेखक का अनुभव संसार व्यापक होता है, उसे शायद दुहराव जैसे हालात के प्रति सचेत रहने की जरूरत भी नहीं होती। यही वजह है कि 'जंगलतंत्रम' के बाद फिल्म नगरी के जीवन पर आधारित 'सेतु' उपन्यास की रचना के पश्चात श्रवणकुमार गोस्वामी की सोच भारतीय गाँवों की दुःस्थिति की चिंता से ग्रस्त हो जाती है और 'भारत बनाम इंडिया' जैसे उपन्यास का जन्म होता है। इस उपन्यास के परिवेश और कथानक के अनुकूल लेखक जब गाँवों में भ्रमण कर रहा होता है, तब वह पाठकों को दृश्यावलोकन के लिए गाँवों में पहुँचा देता है और जब शहरों में भ्रमण कर रहा होता है, तब पाठक भी शहरी चकाचौंध और गाँव की नारकीय पीड़ा दोनों की तुलनात्मक घुटन को आत्मसात कर रहा होता है।

इस प्रकार श्रवणकुमार गोस्वामी अपने प्रत्येक उपन्यास के साथ पाठकों को अपने व्यापक अनुभव संसार तथा शिल्प-शैली कला की विविधता से परिचित कराते चलते हैं। श्रवणकुमार गोस्वामी इस बात को भली-भाँति समझते हैं कि किस कथानक का निर्वाह वे फंतासी शैली के माध्यम से कर सकते हैं, किस कथानक का प्रतीक या व्यंग्य के माध्यम से और किसका सामान्य शिल्प और शैली के माध्यम से। शिल्प और शैली पर उनकी इसी मजबूत पकड़ के कारण वे अन्य उपन्यासकारों से हटकर नजर आते हैं।

‘दर्पण झूठ न बोले’ उपन्यास का शिल्प और शैली व्यंग्यात्मक होते हुए भी अन्य व्यंग्य लेखकों से उन्हें अलग करती है। साथ ही साथ प्रतीकों को मूर्त बनाकर कैसे प्रस्तुत किया जा सकता है, अपनी इस कला क्षमता को भी वे सिद्ध कर देते हैं। इस तरह उनका एक भी उपन्यास ऐसा नहीं है, जो कथानक, शिल्प, शैली, भाषा यानी सभी स्तरों पर एक दूसरे से भिन्नता न रखता हो।

भाषागत वैशिष्ट्य

किसी भी साहित्यिक रचना को विशिष्ट बनाने में उसकी भाषा का सर्वाधिक महत्व होता है। रचना लघु हो अथवा विस्तृत, अगर उसकी भाषा में प्रवाह न हो, पाठकों द्वारा खुद को पढ़वा ले जाने की ताकत न हो तो वह रचना साहित्य जगत में कतई अपना स्थान नहीं बना सकती। यानी सहज संप्रेषणीयता किसी भी रचना की पहली शर्त होती है।

इस दृष्टि से देखें तो उपन्यासकार श्रवणकुमार गोस्वामी पाठकों की कसौटी पर शत-प्रतिशत खरे नजर आते हैं। उनके उपन्यासों की भाषा इतनी सहज है कि जो भी वे पाठकों को संप्रेषित करना चाहते हैं, अपनी पूरी प्रवाहमयता और गतिशीलता के साथ संप्रेषित कर लेते हैं। उपन्यास चाहे फंतासी को आधार बनाकर लिखा गया हो, या फिर प्रतीकों के माध्यम से पात्र और प्रतीक अपने आप में स्पष्ट हैं। उनके उपन्यासों को पढ़ते हुए कई बार तो ऐसा प्रतीत होता है, रचनाकार नहीं बल्कि उपन्यास के पात्र और परिवेश स्वतः खुद को रच रहे हों। अगर पात्र बालक या बालिका है, तो उनके संवाद ऐसे मानो लेखक भी कोई बालक या बालिका हो। पात्र राजनीतिज्ञ हैं तो लेखक भी जैसे कोई राजनीतिज्ञ ही हो। विषय का चयन, अगर लेखक ने राजनीति, साहित्य, फिल्म, विश्वविद्यालय, एन.जी.ओ., गाँव, शहर, प्रशासन, अर्थात् जिस रूप में भी किया हो, परिवेश और पात्रों की ऐसी जीवंत प्रस्तुति, जैसे लेखक स्वयं उस परिवेश का अंग हो। जब आदिवासी जीवन को अपने उपन्यास में स्वरूप दे रहे होते हैं, तब आदिवासियों के बोलने का ढंग (भाषा हिंदी, मगर टोन आदिवासी) खान-पान, उनकी सिम्पलीसिटी, उनके नृत्य-संगीत, उनकी संस्कृति, सारी प्रस्तुतियाँ ऐसी चित्रात्मक जैसे लेखक स्वयं आदिवासी समाज से आता हो।

आज दलित या आदिवासी साहित्य हमारे सामने नए और उग्र प्रतिक्रियात्मक रूप में है जिसमें यह माना जाता है कि दलित या आदिवासी साहित्य की रचना वह कैसे कर सकता है, जो स्वयं दलित नहीं है या जिसने उस त्रासद यथार्थ को खुद नहीं भोगा है। उसकी इस अवधारणा को गोस्वामीजी के लगभग सारे उपन्यास ध्वस्त करते से प्रतीत होते हैं क्योंकि आदिवासी न होते हुए भी आदिवासी जीवन पर जिस प्रामाणिकता और विश्वसनीयता के साथ उन्होंने लिखा है, वैसा शायद किसी आदिवासी लेखक के लिए भी लिख पाना कठिन होता। इसी तरह मुस्लिम जीवन को जहाँ उन्होंने अपने उपन्यासों

की कथावस्तु बनाया है तो भाषायी ताना-बाना ऐसा प्रस्तुत किया है कि मुस्लिम परिवार या समाज का पूरा का पूरा परिदृश्य ही आँखों के आगे साकार हो उठे। इस तरह इन सारे विषयों को जीवंत बनाने में उनकी भाषायी समझ और भाषा पर उनके अधिकार को सर्वाधिक श्रेय जाता है। वे भाषा गढ़ते नहीं, न ही भाषा के इस्तेमाल में अपनी बौद्धिकता का परिचय देने की कोशिश करते हैं, बल्कि उनके कथानक, पात्र और परिवेश, जिस तरह की भाषा की माँग करते हैं, इसके चयन के लिए वे उन्हें ही अधिकृत कर देते हैं। यही वजह है कि गोस्वामी जी को पढ़ते हुए पाठकों को कहीं भी भाषायी बोझ का सामना नहीं करना पड़ता।

सामाजिक यथार्थ

श्रवणकुमार गोस्वामी का स्वयं का जीवन ही घनघोर संघर्षों के बीच से गुजरा है, इसलिए उनके उपन्यासों में भी उनका जीवन-संघर्ष पूरी तरह मुखर नजर आता है। कहा जाए कि अपने कथानक उन्होंने अपने इर्द-गिर्द और जीवन से ही चुने हैं, तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगी। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि उनके 'जंगलतंत्रम' या 'सेतु' उपन्यास में उनका अपना परिवेश या जीवन कहाँ है? तो इसका जवाब यही होगा कि किसी व्यक्ति का जीवन मात्र उतना नहीं होता, जो भौतिक स्तर पर दृष्टिगत होता है। समाज के वे सारे तत्व, जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उसे दैहिक, मानसिक, आर्थिक या सामाजिक तौर पर प्रभावित करते हैं, उसे अनुभव प्रदान करते हैं, वे ही उस व्यक्ति के जीवन को पूर्ण बनाते हैं।

इस नजरिये से देखें तो हमारा जो सामाजिक यथार्थ है, अर्थात् जीवन पद्धति का मूल आधार, वही हमारा जीवन-यथार्थ भी होता है, जिसके एक-एक तिनके को जोड़कर कोई रचनाकार अपने रचना संसार का निर्माण करता है। इसमें परखना यह होता है कि उसका रचना-संसार सिर्फ कोरी कल्पना के आधार पर निर्मित हुआ है या उसमें जीवन और सामाजिक यथार्थ की विश्वसनीय दृष्टि का भी समावेश है?

श्रवणकुमार गोस्वामी का उपन्यास-संसार पूरी तरह उस सामाजिक यथार्थ का दस्तावेज है, जिसके प्रभाव और अनुभवों को लेखक अपने रचना-संसार के निर्माण में 'रॉ मेटेरियल' की तरह इस्तेमाल करता है। रेणु के शब्दों में कहें तो गोस्वामीजी के उपन्यासों में भी फूल और शूल दोनों ही हैं। उनके उपन्यासों में इंडिया के द्वारा उपेक्षित किया गया भारत, यानी शहरों और गाँवों के वैसे तुलनात्मक विवरण भी हैं, जहाँ किसानों मजदूरों के लहू से निर्मित शहरी चकाचौंध का उन्मादी माहौल तो है, मगर उन किसानों मजदूरों के जिस्म के लहू के दोहन से उपजी पीड़ा और चीत्कार का श्रोता, चकाचौंध भरे शहरों में कोई नहीं। एक तरफ फिल्म नगरी की स्वार्थ-लोलुपता पर टूटते-बिखरते दांपत्य संबंध हैं तो दूसरी ओर गाँवों से शहर की ओर पलायन कर गए भौतिकता के मद

में डूबे ऐसे लोग हैं, जिन्हें अपने सुख के आगे गाँव में रह रहे अपने भाई, माता-पिता और उन तमाम रिश्तों की कोई परवाह नहीं, जिनके श्रम, त्याग और स्नेह के बल पर ही वे शहरी भौतिक जीवन के योग्य बन पाए होते हैं। यहाँ तक कि उस भाई, पिता की मौत पर भी उनकी आँखें नम नहीं होतीं, बल्कि उनकी नृशंसता की हद तो यह होती है कि आँसू बहाने या आँसू पोंछने की जगह वे अपने उन दुखी अपनों से और भी भौतिक सुख ही बटोरने की लालसा रखते हैं। (केंद्र और परिधि)

आज की बाजारवादी और उपभोक्ता संस्कृति की ही देन है कि व्यक्ति समाज या परिवार से कटकर अपने निजी स्वार्थ के पोषण के निमित्त पूरी तरह व्यक्तिवादी स्वरूप ग्रहण करता जा रहा है। आज का सामाजिक यथार्थ यही है, जिसे गोस्वामीजी के उपन्यास स्वर दे पाने में पूरी तरह सक्षम हैं।

सामाजिक यथार्थ को सत्ता शासन और प्रशासन से काटकर नहीं देखा जा सकता। इस लिहाज से गोस्वामीजी की नजर देश के चप्पे-चप्पे का निरीक्षण कर अत्यंत ही सूक्ष्मता से एक-एक स्थिति-दुःस्थिति के चित्र सामने रखती है। उनका उपन्यास 'भारत बनाम इंडिया' हो या 'दर्पण झूठ ना बोले', 'राहु-केतु' हो या 'हस्तक्षेप' या फिर इनके अलावा वे सारे उपन्यास, समाज के हर क्षेत्र में फैले भ्रष्टाचार और उनसे आक्रांत लोगों के चित्र कुछ इस तरह प्रस्तुत करते हैं, जैसे समाज की समस्त पीड़ा के अकेले भोक्ता हों वे। बल्कि यों कहें कि लेखक ग्रामीण यथार्थ से लेकर शहरी-महानगरीय यथार्थ तक का चश्मदीद गवाह हैं तो इसमें कुछ भी गलत नहीं होगा। भारत (गाँव) और इंडिया (शहर-महानगर) के चित्र तो इतने जीवंत हैं कि गाँवों के घुटनयुक्त वातावरण को पढ़कर पाठकों का अंतस कचोट से भर उठे तथा नगरों-महानगरों के घृणित चरित्रों को महसूस कर मन घृणा और आक्रोश से उबलने लग जाए।

लेखक जब राजनीति के विद्रूप, सरकारी महकमे के भ्रष्टाचार या शैक्षिक संस्थानों के नग्न यथार्थ से पाठकों को रू-ब-रू कराता है, तब पाठक उस त्रासद और घिनौने यथार्थ को अपने इर्द-गिर्द महसूसता है। संभवतः वह ऐसी कोई जगह तलाशता नजर आता है, जहाँ शायद उसे राहत की चंद साँसें मयस्सर हो सकें और जब ऐसी कोई जगह नजर नहीं आती तो उसे मन मसोसकर यथास्थिति को स्वीकार कर उससे निजात पाने के उपाय की तलाश में, भले ही महज चिंतन के स्तर पर, तत्काल गुम हो जाने के लिए विवश तो होना ही पड़ता है।

इस प्रकार गोस्वामीजी के उपन्यासों में कड़वे, मीठे, खट्टे, गुदगुदी भरे, बूढ़े, युवा, स्त्री, पुरुष, बच्चे, हिंदू, मुस्लिम, नेता, उपनेता, गाँव, कस्बे, शहर, स्नेह, ममता, क्रूरता, भ्रष्टाचार, व्यभिचार, शैक्षिक संस्थानों से लेकर गैर सरकारी संस्थानों के विद्रूप... अर्थात् समाज का शायद ही कोई यथार्थ ऐसा हो, जो पूरे प्रभाव के साथ उपस्थित न हो।

वैचारिक दृष्टि

किसी भी साहित्य में यदि कोई विशेष वैचारिक दृष्टि न हो तो उस साहित्य का कोई अर्थ नहीं हो सकता। इस संदर्भ में गोस्वामीजी का पूरा उपन्यास-साहित्य सिर्फ पठनीय नहीं, बल्कि अनुकरणीय भी बन पड़ा है। अपने उपन्यासों में वे पूरी तरह मानवीय संवेदनाओं से भरे पूरे नजर आते हैं। उनके सारे उपन्यासों में मनुष्य की चिंता और अमानवीयता का विरोध तथा निषेध अपने प्रखर रूप में उपस्थित है। अगर संपूर्णता में उनके उपन्यासों पर विचार करें तो हम पाते हैं कि गोस्वामीजी किसी खास खेमे, अर्थात् वामपंथ या दक्षिणपंथ से प्रभावित लेखक नजर नहीं आते। उनकी वैचारिक दृष्टि का केंद्र मनुष्य और सिर्फ मनुष्य है। भौतिकता और बाजारवाद की जकड़न में 'सेतु' उपन्यास के नायक नायिका के रिश्तों में दरार तो अवश्य उत्पन्न हो जाती है, मगर अंततः रिश्ते की अहमियत को वे समझते हैं और अपने मध्य एक सेतु के निर्माण में जुट जाते हैं। यानी मनुष्य के भीतर जो मानवीय संवेदना है, उसे ही झकझोर कर जगाते रहना लेखक का उद्देश्य जान पड़ता है।

ऐसा नहीं कि इन्होंने अपने उपन्यासों में अमानवीय चरित्रों को उनके भरपूर भयावह रूप में चित्रित ही नहीं किया है, मगर इसके पीछे भी जो उद्देश्य है उनका, वह मानवीय संवेदना को झकझोरना ही है।

इसी तरह यह भी सच नहीं है कि इनके उपन्यासों में कहीं वाम चिंतन मुखर होता ही नहीं है, बल्कि अगर वामपंथी चश्मा लगाकर उनके उपन्यासों का मूल्यांकन किया जाए तो उनके एक दो उपन्यासों को छोड़कर बाकी के सारे के सारे उपन्यास वाम-चिंतन के करीब ही नजर आएँगे। बावजूद इसके, समतामूलक समाज की स्थापना के लिए जिस वैचारिक और क्रियाशील संघर्ष की बात वामपंथ करता है, यह उनके उपन्यासों में नजर नहीं आता। शायद इसलिए कि गोस्वामीजी यह समझते हैं कि जिस क्रियाशील संघर्ष की बात वामपंथ करता है, उसका माद्दा भारतीय समाज नहीं रखता। परिस्थिति कैसी भी हो, समझौता या पलायन ही भारतीय जनमानस की नियति बन चुका है। यही वजह है कि 'चक्रव्यूह' के नायक डॉ. शैलेश को संघर्षों से हारकर पलायन करना पड़ता है तथा 'आदमखोर' में 'बेंगा' का पूरा परिवार दुर्दांत नजीर खाँ के आगे घुटने टेकने पर मजबूर हो जाता है। लेखक भारतीय जनता के मनोविज्ञान से भली भाँति परिचित है, इसीलिए अपने पात्रों को यथार्थ की कसौटी पर कसते हुए अन्याय के विरुद्ध संघर्ष तो जरूर करवाता है वह, मगर माद्दा के मुताबिक पात्रों से बगावत न करवाकर उसे या तो पलायन के हालात तक पहुँचा देता है या फिर समझौते के स्तर तक। फिर गौर करने की बात यह भी है कि लेखक हालात को इतने पैने रूप में रखता है कि जिसकी चुभन से जनमानस तिलमिला उठता है। इस नजरिये से अगर हम यह कहें कि लेखक की वैचारिक

दृष्टि मानवीय संवेदना को झकझोर कर अन्याय के विरुद्ध एक जमीन तैयार करने की तथा जनमानस को बगावत के लिए तैयार करने की है, तो यह पूरी तरह प्रासंगिक होगा। हालांकि उनके उपन्यासों में यह लेखक के द्वारा आरोपित नजर नहीं आता, बल्कि उनके विचार पात्रों और परिवेश के माध्यम से कथानक के साथ-साथ चलते नजर आते हैं। कई बार तो उपन्यासों को पढ़ते हुए ऐसा लगता है, जैसे लेखक ने कथानकों का चयन खुद नहीं किया हो, बल्कि भारतीय समाज की विद्रूपताओं से मिली मानसिक यातनाओं ने स्वतः कथानक का रूप अख्तियार कर लिया हो। जब गाँव के किसानों के मर्माहत दुःख, गाँवों में बाढ़-सुखाड़ से उजड़ते, मरते, अनाथ होते लोगों की चीत्कार, उनकी उस पीड़ा पर मरहम लगाने की जगह उस पर राजनीति करते तथा रोटी सेंकते लोगों के दर्द को महसूसता है लेखक और दूसरी ओर नगरों महानगरों में गाँवों के हालात से पूरी तरह निरपेक्ष नेताओं-पूँजीपतियों को ऐयाशी में आकंठ डूबा हुआ देखता है वह, तब उसके भीतर का मनुष्य बुरी तरह छटपटा उठता है। उसे भारत (गाँव) और इंडिया (नगर) के बीच का विशाल और विकराल अंतर महसूस होता है। लेखक की मानवीय-संवेदना बुरी तरह आहत होती है और तब 'भारत बनाम इंडिया' का जन्म होता है।

अपने क्षेत्र में व्याप्त धिनौनी राजनीति, लुपेनाइज्ड प्रतिस्पर्धा और संवेदनहीन स्वार्थपरता से लेखक जब रू-ब-रू होता है, तब उसके भीतर का लेखक हाहाकार कर उठता है। उसी हाहाकार से जन्म लेता है उसका उपन्यास 'मेरे मरने के बाद'।

कहने का अर्थ यह कि चाहे बाल मनोविज्ञान हो, सत्ता की राजनीति, साहित्य की राजनीति, फिल्म नगरी का यथार्थ, सार्वजनिक और निजी क्षेत्र का तुलनात्मक यथार्थ, गैर सरकारी संस्थाओं के भीतर व्याप्त चरित्रहीनता, ग्रामीण और शहरी यथार्थ, शिक्षण संस्थानों का धिनौना स्वरूप या फिर ब्यूरोक्रेसी का धिनौना चेहरा-ऐसा लगता है कि लेखक ने इन तमाम क्षेत्रों में प्रवेश कर उसका अवलोकन-निरीक्षण किया है, वहीं से अपनी वैचारिक दृष्टि प्राप्त की है और जब-जब संवेदनात्मक स्तर पर एक छटपटाहट सी महसूस की है, कलम साधने को मजबूर हो गया है।

के-१०, सी. टी. एस. कॉलोनी,
पुलिस लाइन के पास,
हजारीबाग-८२५३०१
झारखण्ड।
■ ■ ■

जंगलतंत्रम एक विश्लेषण

डॉ. अरुणा दुबलिश

‘जंगलतंत्रम्’ श्रवणकुमार गोस्वामी की ऐसी रचना है, जिसे उपन्यास न कहकर लघु उपन्यास कहा जा सकता है। ‘पंचतंत्र’ की तरह इसके पात्र भी जीव जंतु हैं जो सभी प्रतीकात्मक हैं। इसका शीर्षक भी ‘पंचतंत्र’ के आधार पर ही रखा गया है।

इस उपन्यास को समझने के लिए स्वातंत्र्योत्तर परिवेश पर दृष्टि डालनी उचित होगी। लेखक ने इसकी अत्यंत संक्षिप्त भूमिका में इस ओर इंगित भी किया है। इस भूमिका को ज्यों का त्यों उद्धृत किया जा रहा है-

मुझे कुछ भी नहीं कहना है

केवल यह कहना है कि ‘जंगलतंत्रम्’ आप स्थिति की उपज नहीं है। १५ अगस्त, १९७२ को भारत ने जब स्वतंत्रता की रजत जयंती मना ली, तब २६ फरवरी, १९७३ तथा २५ मार्च, १९७३ के बीच यह उपन्यास लिखा गया। परिस्थितियाँ कुछ ऐसी वाम रहीं कि ‘जंगलतंत्रम्’ का तत्काल प्रकाशन होते-होते रह गया।

‘पंचतंत्र’ में भी जीव जंतुओं की कहानी के माध्यम से राजनीति की शिक्षा दी गई थी और यह लघु उपन्यास भी जीव जंतुओं के माध्यम से स्वातंत्र्योत्तर परिवेश की अभिव्यक्ति करता है। यह उपन्यासिका आपात्काल से पूर्व लिखी गई थी-पर प्रकाशित हुई आपात्काल के बाद। स्वतंत्रता पूर्व जिन मूल्यों ने जन्म लिया था वे धीरे-धीरे समाप्त हो गए। देश को स्वतंत्र कराने की इच्छा रखने वाले अधिकतर देशभक्त काल कवलित हो गए। लगभग सभी को फाँसी की सजा हुई। पटेल और मोहम्मद करीम छागला जैसे देशभक्त और कुशल राजनीतिज्ञ अल्पायु को प्राप्त हुए। स्वतंत्रता के पश्चात आम आदमी ने जिस सामाजिक, राजनीतिक और राष्ट्रीय स्थितियों की परिकल्पना की थी, उन सबके प्रति शीघ्र ही उसका मोहभंग हो गया। तत्कालीन समाज एवं तंत्र भ्रष्टता की ओर उन्मुख हुआ। आर्थिक दृष्टि से भी गरीब और अमीर की खाई पटती गयी। पुराने राजे-रजवाड़े समाप्त हुए। उनका स्थान नेताओं और नवधनिक वर्ग ने ले लिया। नए-नए स्वयंभू राजा पैदा होते रहे। बुद्धिजीवी वर्ग या तो उदासीन हो गया या भ्रष्टतंत्र

का समर्थक। हरिशंकर परसाई ने लिखा-इस देश का बुद्धिजीवी सिंह है, पर वह सियारों की बारात में बैड बजा रहा है।

‘जंगलतंत्रम्’ में यह सत्य बड़े प्रतीकात्मक ढंग से कहा गया है। आजादी के पच्चीस साल इस उपन्यासिका की पच्चीस रातों में कही जानेवाली कहानियाँ हैं। कथा जो नानी कहती है- ‘मैंने इस कॉपी में तुम्हारे लिए एक लंबी कहानी लिख रखी है। यह कहानी पच्चीस रातों तक सुनी जा सकती है। मैं यह कहानी तुम्हें बहुत पहले सुना देना चाहती थी, पर नहीं सुना सकी, क्योंकि कुछ दिनों के लिए मैं खुद भी छलावे में आ गई थी। पर अब वह छलावा टूट चुका है। मैं यह कहानी तुम लोगों को सौंप जाना चाहती हूँ, क्योंकि तुम्हीं लोग भविष्य का निर्माण करोगे। तुम लोग ही भावी नेता हो। तुम्हें इस कहानी से सीख मिलेगी। मेरी तो वे पच्चीस कीमती रातें सुनहले सपने देखते-देखते गुजर गई थीं। मगर आज वे सपने कहाँ दिखाई पड़ते हैं? वे पूरी तरह टूट चुके हैं। (पृ.९)

आजादी के पच्चीस सालों बाद जनता समाजवाद, जातीयता, भाषावाद और क्षेत्रीयतावाद के दलदल में धंसती चली गई। जातीयता की ऐसी आंधी चली कि सारे मूल्य ध्वस्त हो गए। नेहरू के खिलाफ जो भी खड़ा हुआ (बोला) वह पटल से ही हटा दिया गया। राष्ट्रीयता जैसी कोई चीज नहीं बची। केवल लाभ कमाने की स्थिति बनती गई। शासक बदल गए थे, इसलिए शोषण का रूप भी बदल गया था। ‘मोर बड़ा भयभीत था। जब वह स्थिर हुआ तो उसने सोचना शुरू किया कि जब सिंह की ही नीयत खराब हो गई, तो मैं ही क्यों धर्मात्मा बना रहूँ। मुझे भी सिंह की तरह ही व्यवहार करना चाहिए। (पृष्ठ १०)

राजनीतिक मूल्यों के पतन के साथ अन्य क्षेत्रों में भी मूल्यों का विघटन हुआ। नैतिक क्षेत्र में भी परंपरागत आदर्शों का कोई मूल्य नहीं रहा। गांधी के नाम पर कुछ समय देश चलाया गया पर जल्दी ही वह मिथक भी टूट गया। तुष्टीकरण की नीति ने समाज में और अधिक दरारें डाल दीं। नेताओं ने इस नीति को पूर्णतः अपने स्वार्थ के लिए प्रयुक्त किया। सामान्य जनता इनकी नजरों में मूर्ख और अनपढ़ रही। उसे बरगलाने का काम भी खूब किया गया। संविधान में आरक्षण के नाम पर फूट, प्रमाद और मूढ़ता का ऐसा अभेद्य किला गढ़ा गया, जिससे समाज में दुष्चक्र बढ़ा। इसे जंगलतंत्र कहा जा सकता है प्रजातंत्र नहीं। जंगलतंत्र का मतलब एक ऐसा राज्य होता है, जिस पर जंगल के सभी लोगों का समान अधिकार हो। इस राज्य में हम सभी बराबर हैं, हम प्रजा होने के साथ-साथ राजा भी हैं। सिर्फ प्रशासन की सुविधा और जंगल की एकता के लिए मैं राजा बना हूँ। परंतु सच्ची बात तो यह है कि मैं लोगों का सबसे बड़ा सेवक हूँ। आपकी सेवा ही मेरा धर्म है। (पृ.२०)

सेवाधर्म का मुखौट लगाकर तत्कालीन प्रधानमंत्री, जिनके कपड़े दुबई, लंदन और

पेरिस से धुलकर आते थे, गरीब जनता के प्रतिनिधि सेवक बने। मुखौटा जल्दी ही उतरा लेकिन जो भी शासक बना उसी ने यह मुखौटा लगाया। केवल लालबहादुर शास्त्री जो वास्तविक नायक थे लोकप्रिय हुए। पर जल्दी ही उन्हें भी पटल से हटा दिया गया। अगर शास्त्रीजी दस वर्ष भी प्रधानमंत्री बने रहते तो जनता के खून में मिला भ्रष्टाचार का जहर धीरे-धीरे निकल जाता।

मोर को प्रशासनिक वर्ग का प्रतीक बताया गया है। मोर एक ऐसा सेवक है, जो राजा के नियमों के पालन के लिए उत्तरदायी है। नाग नवधनाढ्य व्यापारी वर्ग का प्रतीक है। इसी तरह नाग है जो वाणिज्य व्यापार चलता है। पर एक ऐसा वर्ग भी है जिसे हर हुकूमत में दबाकर रखा गया और वह है चूहा जैसे छोटे-छोटे जीव जंतुओं का वर्ग जिसे आम जनता का वर्ग भी कहा जाता है। इस वर्ग के लोग कमजोर हैं, इसलिए दूसरों ने इस कमजोरी का नाजायज फायदा उठाया। लेकिन अब ऐसा नहीं हो सकेगा। चूहा और उसके जैसे सारे छोटे-छोटे जीव भी हमारे ही समान हैं। जंगलत्र के संविधान में उन सबको बराबरी का दर्जा दिया गया है। अब जमाना बदल गया है और यह जंगलतंत्र का जमाना है।” (पृ. २९) यह लोकतंत्र का भारी उपहास है। उसे लोकतंत्र से जंगलतंत्र में बदलने की गहरी साजिश है।

एक नया शब्द निर्मित हुआ दलित। वास्तविक दलित कौन है-यह शोध का विषय हो गया है। जो वास्तव में गरीब और शोषित हैं वे आज भी समस्त सरकारी सुविधाओं के बावजूद जीवन की बदतर स्थिति में जी रहे हैं-कहना चाहिए मर रहे हैं और उन सुविधाओं का लाभ हमेशा से वे ही उठाते रहे हैं जो इन सुविधाओं के कारण बहुत अमीर हो चुके हैं, पर अभी भी दलित ही हैं और उन लोगों का हक छीन रहे हैं जिन्हें इसकी वास्तविक आवश्यकता है। इस वर्ग में मुफ्तखोरी की भावना/आदत भी बहुत बढ़ गई है।

यह आम आदमी है जो आज भी पिस रहा है। उसके अधिकार भी छीने जा रहे हैं। आरक्षण के नाम पर कभी करोड़ों का मालिक दलित है। अपने डंडे के नीचे जनता को नचाने वाला दलित है और भूख प्यास से अपनी जान देनेवाला, योग्यता होते हुए भी कुछ न पानेवाला समर्थ और सशक्त है।

इन पच्चीस वर्षों में गरीब और गरीब हुआ अमीर और अमीर। समाजवाद (जयप्रकाश नारायण, रायमनोहर लोहिया का) केवल शब्दों तक सीमित रह गया-आगे के पच्चीस साल अर्थात् स्वतंत्रता के बाद के पचास सालों में संघर्ष और बढ़ा।

कुछ ऐसा भी हुआ कमजोर वर्ग मजबूत हुआ और मजबूत वर्ग कमजोर हुआ और फिर उस कमजोर वर्ग का शोषण उस तथाकथित मजबूत वर्ग के हाथों होने लगा। मत्स्य- न्याय इस देश में राजनीति की देन है। देश या राष्ट्र, देशभक्ति या राष्ट्रभक्ति जैसे शब्द इस नव निर्मित मजबूत वर्ग के हृदय मस्तिष्क से बिल्कुल तिरोहित हो गए। एकदम

के पश्चात पूँजीपति और बुद्धिजीवी में भी गठबंधन हुआ और अखबार निकालने की आवश्यकता महसूस हुई, जुलूस फुलूस निकालने से कुछ नहीं होता। इससे बात आई गई हो जानी है। इसके लिए अखबार निकालना चाहिए। जब सबकी करतूतों की कहानी उसमें तस्वीरों के साथ छपेगी तो लोग खुद बाप-बाप करने लगेंगे। मेरे पास दौलत है और आपके पास मेहनत। दौलत से और मेहनत से अर्थात् हम दोनों मिलकर अखबार निकाल सकते हैं।

चूहा अर्थात् बुद्धिजीवी या तथाकथित आम आदमी लोभ और लालच में फँसकर उद्योगपति का साथ देने लगता है, चूहे के काफी दूर निकल जाने पर नाग ने हंसते हुए कहा, 'आज मेरी राजनीति सफल हुई। चूहा अब मोर और सिंह के खिलाफ लिखेगा और मोर और सिंह चूहे का जीना दूभर करेंगे। लड़ें ये तीनों आपस में खूब लड़ें जब तक ये लड़ते रहेंगे, मेरी चाँदी ही चाँदी रहेगी। (पृ. ३४)

नाग ने काफी धन खर्च करके एक बहुत बड़े प्रेस की स्थापना की, जहाँ से दो दैनिक अखबारों का प्रकाशन हुआ एक जंगली भाषा अर्थात् जनता की भाषा में और दूसरा मोर भाषा अर्थात् प्रशासनिक अधिकारियों की (इंग्लिश) भाषा में।...

इसके अलावा कई साप्ताहिक और मासिक पत्र भी प्रकाशित होने लगे। इन प्रकाशनों की चारों ओर धूम मच गई। उल्लेखनीय है कि स्वतंत्रता से पूर्व जो पत्र निकलते थे। उनमें पूँजीपतियों का कोई सहयोग नहीं होता था।

पत्रकारिता द्वारा सरकार व प्रशासन की पोल खोलना आम बात हो गई। नाग और चूहे की दोस्ती असंभव होती है पर राजनीति में यह सब संभव हो जाता है, हुजूर, 'नाग के धन' पास है। उसने एक बहुत बड़ा प्रेस खोल लिया है। उसी प्रेस से वे पत्र पत्रिकाएँ निकलती हैं, जिनमें हुजूर के खिलाफ जहर उगला जाता है। इसके पीछे चूहा तो बस नाम का है। सच्ची बात तो यह है कि यह सारा गोरखधंधा नाग का है। वह धन के सहारे किसी को भी अपना सेवक बना लेता है। (पृ. ४०)

समाजवाद का ढोल बड़े जोर-जोर से पीटा गया। हमें यहाँ एक आदर्श शासन-व्यवस्था कायम करनी है। हम यहाँ सबको न्याय देंगे, समानता देंगे और अच्छी तरह जीने के अवसर देंगे। यही हमारा संकल्प है। अपने संकल्पों को पूरा करने के लिए हमें मंगलवाद के आदर्श को अपनाना होगा।

मंगलवादी समाज में कालाबाजार नहीं होगा। कोई रिश्वत नहीं ले सकेगा। कोई जरूरत से ज्यादा धन जमा नहीं कर सकेगा। हर चीज पर सरकार का अधिकार होगा। सरकार आप सबके कल्याण के लिए अनेक क्रांतिकारी कदम उठाने जा रही है। (पृ. ४३)

समाजवाद के नाम पर बड़ी बड़ी डींगें हॉवी गईं। जनता को लोक लुभावन नारे से

बहकाया/बहलाया गया। जो कहा गया वह कभी किया ही नहीं गया। नेहरू ने 'आराम है हराम' का नारा दिया जिसके खिलाफ रघुवीर सहाय ने लिखा, "गाँव में दिया जन-जन को/विश्वास/नेकराम नेहरू ने/कि अन्याय आराम से होगा/आम राय से होगा/ नहीं तो कुछ नहीं होगा/ गाँव का।" (आत्महत्या के विरुद्ध, पृ. ८३) निराला, नागार्जुन और धूमिल जैसे कवियों ने इस समाजवाद की सच्चाई को समझ लिया था। 'मैं जानता हूँ कि मेरे देश का समाजवाद/मालगोदाम में लटकती हुई/उन बाल्टियों की तरह है/जिन पर आग लिखा है/ और उनमें बालू और पानी भरा है।' (संसद से सड़क तक, पृ. १२६)

सत्ता के पक्ष में लिखने का फायदा उठाया चूहे ने। उसके बदले में सरकारी विज्ञापन मिले। घूसखोरी, कालाबाजारी का बाजार बहुत गर्म हुआ। बैंकों का सरकारीकरण किया गया, जिसका लाभ सामान्य जनता को नहीं हुआ। ऋण उसे ही मिलता था, जो अधिकारियों की मुट्ठी गर्म कर सके- 'अरे भोले नेवले, तू बस यही तो नहीं समझता कि इससे हम छोटे-छोटे जीवों को कोई लाभ नहीं। वहाँ से आज भी उन्हें ही फायदा हो रहा है, जो औरों को शहद चटा सकते हैं।' (पृ. ५६)

समाजवाद की बात तो और भी धोखा साबित हुई। सर्वप्रथम शिक्षा और स्वास्थ्य-सुविधाओं के लिए समाजवाद होना चाहिए। लेकिन शिक्षा का राष्ट्रीयकरण नहीं हुआ जिसने एक नये ही प्रकार के वर्ग को जन्म दिया। "आखिर तुम लोग यह क्यों नहीं समझते कि यह सब कुछ एक नाटक है और नाटक के सिवाय कुछ भी नहीं? अगर हम सब समान हैं तो हमारे बच्चे साधारण स्कूलों में क्यों जाते हैं? जबकि सिंह, मोर और नाग के बच्चे खास तरह के स्कूलों में जाते हैं। अगर यह जंगल में रहनेवाले हम सब जीवों का राज्य है तो राजकाज की भाषा हमारी अपनी भाषा क्यों नहीं है। यहाँ के सारे काम-काज मोर भाषा में ही क्यों किए जाते हैं। तुम लोग यह समझने की कोशिश क्यों नहीं करते हो कि हमारे साथ कितना बड़ा फरेब किया जा रहा है। सच्ची बात तो यह है कि हम पहले केवल सिंह के गुलाम थे लेकिन आज, हम सिंह मोर और नाग तीनों के गुलाम हैं।" (पृ. ५७)

वास्तविकता यही थी कि लालफीताशाही, व्यापारी और प्रजातंत्र के नाम पर बने नये नए राजाओं (नेताओं) ने जनता को धोखे में रखने में कोई कसर नहीं छोड़ी। उपन्यास के प्रारंभ में ही सिंह धोखे से ही राजा बनता है। पुराने सिंह अर्थात् अंग्रेजों से देश को स्वतंत्र कराने में क्रांतिकारियों और नेताजी सुभाषचंद्र बोस की सेना 'आजाद हिंद फौज' का बहुत बड़ा हाथ था, किंतु कांग्रेस ने सारा श्रेय अपने सिर पर ले लिया और इसी नाते बार-बार देश का शासन अपने हाथ में लेती रही। (पृ. १७-१८)

राजनीति को इतना दूषित और भ्रष्ट कर दिया गया कि लोग देश की जगह केवल अपने स्वार्थों तक ही सिमट गए। सत्ता महत्वपूर्ण होती गई और देश गौण। यथा राजा

तथा प्रजा वाली स्थिति होती गई। कुछ लोगों को संतुष्ट करने के लिए सभी प्रकार के उपाय किए गए। स्थिति यह हो गई कि यदि कोई देश के उत्थान का काम करना चाहता है तो उसका साथ नहीं दिया जाता। जनता में जातिवाद का जहर इतना घोला गया कि उससे मुक्ति पाना असंभव हो गया। बेरोजगारी, योग्यतानुसार काम करने की सुविधा का अभाव, अनेक स्तरीय भ्रष्टाचार आदि के कारण निराशा, संत्रास आदि ने भारतीय परिवेश को प्रभावित किया। सामाजिक अन्याय और नैतिक पतन में वृद्धि हुई। समाज में व्याप्त अंतर्विरोध ज्यों के त्यों बने रहे। जाति प्रथा का और अधिक विकास होता गया। सिद्धांत और व्यवहार की खाई ने देश में एक ऐसा नेता वर्ग उत्पन्न किया जिसने सार्वजनिक क्षेत्र में नैतिकता के लिए अभूतपूर्व संकट पैदा किया।

शहरों में, एक ओर नवधनिक वर्ग द्वारा दिखावे की संस्कृति और विलासिता की चीजों पर अनाप-पनाप खर्च करने की प्रवृत्ति विकसित हुई। संपन्न देशों की जीवनशैली की भद्दीनकल नेता, व्यापारी और सरकारी अफसरों द्वारा हुई। राष्ट्रीय मूल्यों के स्थान पर पाश्चात्य मूल्यों की स्थापना करनेवाली शिक्षा एवं नीति ने समाज को मुख्यतः दो वर्गों में बाँट दिया। कान्वेंटी तौर-तरीके वाले अपने को अति आधुनिक और अमेरिका इंग्लैंड के प्रति वफादार बौद्धिक फैशनेबल नजरिये वाला वर्ग और दूसरा हिंदी भाषी व अपनी मातृ भाषा तथा अपनी जमीन से जुड़ा नितान्त भारतीय वर्ग।

चूहा कायर पलायनवादी और सुविधाजीवी, बुद्धिजीवी का प्रतीक है। सामान्य जनता के हाथ में वोट रूपी झाड़ू है जिससे वह सरकार बदल सकती है। पर बार-बार सिंह द्वारा चली गई चालों में बहककर वह अपना लक्ष्य भूल जाती है, “तू सुविधाजीवी, डरपोक और भगोड़ा है। क्षणभर के सुख के लिए तू अपना भविष्य तो चौपट कर सकता है, मगर अपनी जीभ नहीं हिला सकता। तू सिर्फ पीछे चलना जानता है, आगे नहीं। तू जयजयकार तो कर सकता है, मगर विरोध नहीं।” (पृ. १०१)

भारत का बुद्धिजीवी/पत्रकार अपने को निर्बल कहता है लेकिन वस्तुतः वह निर्बल नहीं है, “अगर तू निर्बल होता तो गणेशजी का भार नहीं उठा पाता। अब तो तू स्वतंत्र है, तुझे किसी का भार नहीं उठाना पड़ता। फिर भी भार उठाने की तुझे कुछ ऐसी आदत पड़ गई है कि तू किसी का भी बोझ उठाने लगता है। अपने को तू पहचानना ही नहीं चाहता। (पृ. १०१)

१९७१ में भारत-पाक युद्ध लड़ा गया। पाकिस्तान का विभाजन हो गया किंतु जीती हुई भूमि बांग्लादेश को वापस लौटा दी गई। हमारे हजारों सेनानियों की शहादत को मजाक बना दिया गया। भ्रष्टाचार की अति यह कि सेना को भेजी गई रसद व अन्य सामग्री (१९६२ के चीन के युद्ध में) चोर बाजार में बेच दी गई। हम उस युद्ध में बुरी तरह पराजित हुए और १९७१ में जीतकर भी नहीं जीते।

न्यायालय के क्षेत्र में भी हस्तक्षेप जारी हुआ। अत्यंत जूनियर जज को सर्वोच्च न्यायालय का मुख्य जज बना दिया गया ताकि वह सभी सरकारी गैरकानूनी फरमानों को सरकार के पक्ष में सही ठहरा सके।

समस्त वस्तुओं का सरकारीकरण कर किया गया जिससे वस्तुओं का झूठा अभाव पैदा हो गया। और यह सब आनेवाली इमरजेन्सी या आपात्कालीन स्थिति की घोषणा की भूमिका बनी। संक्षेप में इस उपन्यासिका में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के पच्चीस वर्षों की राजनीति का वास्तविक खाका खींचा गया है।

शिल्प की दृष्टि से भी उपन्यास में अनूठापन है। सिंह, मोर, नाग, चूहा, गिरगिट, खरगोश और गिलहरी के प्रतीकों के माध्यम से सत्तापक्ष लालफीताशाही नवधनिक वर्ग, बुद्धिजीवी, दल-बदलुओं, सत्ता के अन्य समर्थकों और पीड़ित जनता का सुंदर विश्वसनीय और मार्मिक चित्रण हुआ है। भाषा में गहराई और अभिव्यक्ति की विलक्षण क्षमता है। जोरदार तालियों की गड़गड़ाहट सुनकर वृक्ष पर बैठे पक्षी फिर आकाश में उड़ने लगे। (पृ. ८१)

सरकारी दोगलेपन की खिंचाई करनेवाली भाषा भी तीखी और व्यंग्यपूर्ण है, “तुम लोग सात दिनों के अंदर जितनी दौलत बटोर सकते हो बटोर लो। फिर सारा कारोबार हाथ में लेते-लेते सरकार को दो तीन महीने तो लग ही जाएंगे, इसलिए इस बीच तुम लोग जमकर कमाई कर लो-मैं तुम लोगों पर कोई रोकटोक नहीं रखूँगा।” (पृ. २५)

भाषा की सरलता, सहजता और साधारणता ही इस उपन्यास की मुख्य उपलब्धि है, “अगर तेरी झाड़ू ठीक है और तू ठीक है, तो गंदगी दूर होकर रहेगी। हाँ, तूने अगर अपनी झाड़ू ही पहले की तरह बेच दी, तो फिर बात ही अलग है।” (पृ. १०२) यह सरलता ही भाषा की ताकत बन गई है और संपूर्ण उपन्यास में रोचकता की वृद्धि करते हुए प्रतीकात्मक मुहावरों में आधुनिक राजनीति का बिड़बनापूर्ण चित्रण करने में सफल हुई है।

१५७/२, प्रगति नगर,
मेरठ-२५००३.



‘केंद्र और परिधि’ बरक्स शहरी गिद्ध

शीतला प्रसाद दुबे

मानव जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन तथा समान विचार और संस्कृति के सूत्रों को केंद्र में रखकर गाँवों की संरचना हुई थी। परस्पर सहभागिता तथा संवेदना के धरातल पर जीवनयापन करने वाले लोगों के सामुदायिक भाव गाँवों के जीवन की जीवनीशक्ति थे। अलग-अलग घर परिवार रहते हुए भी गाँव में कोई वैयक्तिक लाभ-लोभ न होकर समूचे गाँव के विकास में खुद की प्रगति का नक्शा तैयार होता था। मैंने अपने बचपन में गाँव में देखा कि यदि किसी एक के यहाँ कोई कार्यक्रम (शादी-विवाह) है तो उसके आसपास किसी दूसरे के यहाँ कोई कार्यक्रम नहीं रखा जाता। प्रत्येक व्यक्ति, गाँव की प्रकृति से पहचाना जाता। कहीं कोई दुर्घटना अथवा बुराई का पता लगते ही समूचा गाँव उसके परिणाम से वंचित नहीं रह पाता। यही कारण था कि लोग परस्पर या किसी दूसरे से भी उल्टी-सीधी बातें करने से बचते थे। कहीं गाँव में उनका नाम खराब नहीं हो जाए? खेती-किसानी ही गाँवों का मुख्य व्यवसाय था। फसलों में किसानों की आत्मा झूमती मुस्कुराती थी। खलिहानों की समृद्धि ही गाँव की समृद्धि की पहचान थी। लगभग सभी तरह के काम करनेवालों से गाँव के बड़े होने की अवधारणा पूरी होती थी। सभी जातियाँ मिलकर एक दूसरे की जरूरतों को पूरी करने में ही अपने होने को सार्थक करती थीं। उत्तम खेती की सूक्ति को चरितार्थ करने वाले गाँवों में बड़ा वही माना जाता था, जिसके पास सबसे अधिक खेत होता था। लेकिन समय के बदलाव के साथ गाँवों के आनंद भरे माहौल में भी स्वार्थ व लोभ-लाभ की बीमारी लगनी शुरू हो गई। दूसरों की जमीन हड़पकर बड़ा बनने की जरूरत में तथाकथित बड़े (ठाकुर) लोग शामिल होने लगे। १९४७ में मिली आजादी के बाद इस तरह की प्रवृत्ति को और अधिक बढ़ावा मिला। पंचवर्षीय योजनाओं का लाभ लेने के लिए जनप्रतिनिधि का तमगा लगाने की होड़ ने ‘करेले के नीम पर चढ़ने’ का मुहावरा सार्थक करना शुरू किया। नैतिकता की जगह कूटनीति का बोलबाला बढ़ा, परिणाम स्वरूप ‘कहना कुछ और तथा करना कुछ और’ जैसी स्थितियाँ पैदा हुईं। भारतेन्दुजी की पंक्तियाँ ‘भीतर-भीतर सब रस चूसै, बाहर से तन-मन-धन मूसै’ चरितार्थ होने लगीं।

व्यापार तथा व्यवसाय के केंद्रों ने शहर का स्वरूप धारण किया तो गाँव में रहनेवालों को आशा की नई किरण दिखाई दी। पढ़े-लिखे अथवा अनपढ़ भी शहर जाकर अपना जाँगर तोड़ने के लिए लालायित हो उठे। कारण सिर्फ यह कि यहाँ गाँव में हर-एक के सुख दुख का ध्यान रखने में स्वयं का सुख रफूचक्कर हो जाता था। पड़ोस के दुख में पड़ोसी टट्टामार कर हँस नहीं सकता था। पड़ोसी के भूखे रहने पर रात को नींद नहीं आती थी। लेकिन वहाँ शहर में? निरा वैयक्तिक जीवन। मैं खुश तो दुनिया खुश। ऊपर से हर किसी काम का नकद पैसा। सेवा करने जैसे किसी भाव का दूर-दूर तक अता-पता नहीं। सभी केवल एक व्यक्ति। मनुष्यता की सामुदायिक सोच से मुक्ति।

समाज के इस तरह के परिवर्तन से साक्षात् करते हुए रचनाकारों ने इसकी गंभीरता को शिद्दत से महसूस किया और इस पर अपनी लेखनी चलायी। संवेदनाओं के छीजते जाने को मानवता पर कलंक के रूप में देखते हुए उसके भीतरी यथार्थ को उजागर करना रचनाकारों ने अपनी जिम्मेदारी माना। शहरी जीवन जीने वाले, एअरकंडीशन कमरों में बैठकर गाँव के बारे में तहरीर करनेवाले रचनाकारों को सच दिखाने के लिए वे कुछ रचनाकार सामने आए जिन्होंने शहर की पैसों वाली जिंदगी को छोड़कर खुद गाँव में बसने की ठानी। जीवन को सिद्धांत के रूप में प्रतिष्ठित करने वाले इन्हीं रचनाकारों में श्रीप्रकाश जायसवाल और श्रवण कुमार गोस्वामी का नाम लिया जाता है।

श्रवणकुमार गोस्वामी ने बिहार में रहते हुए वहाँ के जीवन के यथार्थ को प्रस्तुत करने का बीड़ा उठाया। उनकी कहानियाँ और उपन्यास हमें उन बिंदुओं का निदर्शन कराते हैं जिनके आलोक में वर्तमान जीवन की विसंगतियों-विडंबनाओं को देखा-परखा जा सकता है। उनका उपन्यास 'केंद्र और परिधि' पढ़ते हुए यह महसूस किया जा सकता है कि जैसे गाँवों के जीवन-चलचित्र हम देख रहे हैं। उपन्यास में उन्होंने गाँवों को केंद्र के रूप में प्रतिष्ठा दी है। जिस तरह बिना केंद्र को निश्चित किए परिधि की रचना नहीं की जा सकती, उसी तरह बिना गाँव के शहरी जीवन की सार्थकता पर प्रश्नचिह्न लगाना लाजमी है। वर्तमान समय की संवेदनहीनता और संबंधों के क्षरण को लेखक ने इस उपन्यास के केंद्र में रखा है। लेखक परोक्ष रूप से यह प्रश्न पूछता है कि हम अब कितने प्रतिशत मनुष्य बचे हैं? एक जनप्रतिनिधि 'ठाकुर' अपनी हवेली की शक्ति बढ़ाने और शक्ति का कुटिल उपयोग कर कैसे किसानों की जमीन पर कब्जा जमाने की जुगत लगाए हुए लोकतंत्र का पहरेदार बना रहता है? यह लेखक की नज़र से बच नहीं पाया है।

लेखक ने उपन्यास के नायक के रूप में 'गुरुजी' को प्रस्तुत किया है। गुरुजी सेवानिवृत्त अध्यापक 'मास्टर' है। उनके पास एक सौ बीघा जमीन है जो इस गाँव में किसी के पास नहीं है। वे पढ़-लिखकर भी खेती की इस जमीन को अपनी पहचान के रूप में प्रस्तुत करते हैं। कुछ भी हो जाए यह जमीन और उसमें उपजने वाली फसल उनकी खुशियों

का पैमाना है। वे सुबह उठकर अपने खेत पर आ जाते हैं, लेकिन रास्ते में रामू हलवाई से मिलना नहीं भूलते। जिस दिन गुरुजी रामू से नहीं मिल पाते, उन्हें लगता है कि जैसे कुछ महत्वपूर्ण काम छूट गया है। और जिस दिन गुरुजी को रामू अलस्सुबह नहीं देखता, उसे लगता है-उसकी बोहनी नहीं हुई। यहाँ लेखक यह बताना चाहता है कि निरुद्देश्य किए जाने वाले कामों से हमारा लगाव प्रकट होता और उन्हीं से हमें सुकून भी मिलता है। गुरुजी रामू की दूकान से मिठाई नहीं खरीदते, फिर भी दोनों को मिलकर लगता है कि दिन सार्थक हुआ। गुरुजी का पालतू झबरा हमेशा उनके साथ रहता है। दस वर्षों में झबरा ने कभी भी यहाँ-वहाँ गंदगी नहीं फैलाई। अर्थात् गुरुजी ने झबरा को भी इतना सिखा दिया है अथवा गुरुजी का इतना असर उस पर हुआ है कि वह गलत नहीं कर सकता।

गुरुजी ने अपने तीनों लड़कों को भी उचित तालीम दी है। सबसे बड़ा भोलानाथ 'बड़कू' के नाम से प्रसिद्ध होकर खेती संभालता है। मँझले पारस को पढ़ा-लिखाकर उन्होंने डॉक्टर बना दिया है जो शहर में अपना क्लीनिक सफलतापूर्वक चलाता है। छोटा माधव सरकारी उपक्रम में इंजीनियर है।

गुरुजी ने ऐसा संस्कार दिया है कि जब भी वे पारस और माधव को बुलाते हैं, दोनों गाँव दौड़े चले आते हैं। उन्हें पिता द्वारा दिए गए मूल्यों के संस्कारों का बराबर ध्यान रहता है। पूरे गाँव में गुरुजी की पहचान एक सच्चे, ईमानदार, कर्मठ और हठी इंसान की है। वे सच्चे किसान की तरह अपनी धान की फसल को देखकर झूम उठते हैं। उनका बड़ा पुत्र बड़कू भी उन्हीं की तरह अपनी ही धुन में मस्त रहता है। रहे भी न क्यों अगल-बगल किसी भी गाँव में सौ बीघे खेत भी तो किसी के पास नहीं है।

लेखक ने उपन्यास में चरित्रों का त्रिभुज बनाया है। एकतरफ गुरुजी हैं, जो अपनी जड़ों से जुड़े हुए, सिद्धांतों के पक्के, खेती के दीवाने और अपना तथा सबका भला चाहने वाले हैं तो दूसरी ओर विधायक अर्जुन सिंह हैं जो किसी को भी अपने से आगे नहीं देखना चाहते। यही कारण है कि उनकी नज़र गुरुजी के खेत पर बराबर बनी रहती है कि कौन-सी जुगत लगाएँ कि गुरुजी का खेत उनकी झोली में चला आए। उन्होंने ही अपने गुर्गों की एक टोली तैयार की है जिसे 'किसान सेवा संघ' का नाम दिया है। जानते हुए भी कोई इस संघ को विधायक का नहीं कह सकता।

संघ के लोग लालझंडा हाथ में लिए गाँव में घूमते हुए किसानों को धमकी के अंदाज में डराते हैं कि मजदूरी बढ़ाओ नहीं तो धान की पकी फसल खेत में ही सड़ जाएगी। किसानों के बहाने टारगेट गुरुजी ही हैं। लेखक ने साफ लिखा है-“विधायक जी खुद तो सरकारी रेट किसी भी मजदूर को नहीं देते, मगर वह मजदूरों को सरकारी रेट माँगने के लिए उकसाते जरूर हैं। ... यह आदमी ऊपर से जितना नम्र दिखता है, भीतर से उतना ही क्रूर है।” विधायक ने एक अदृश्य पात्र विमल के नाम का आतंक चारों ओर

प्रचारित किया है। किसी ने विमल को देखा नहीं है, परंतु सबको यह पता है कि वह आतंकी नक्सली और दुर्दांत है। वस्तुतः लेखक गोस्वामीजी ने आज की राजनीति और किसान आंदोलनों के रहस्यात्मक संबंधों को उजागर करने का कार्य किया है। वे कहना चाहते हैं कि किसानों को खेती करने से फुर्सत ही नहीं है लेकिन उनके नाम पर फर्जी आंदोलन खड़ा करने का प्रयास राजनीतिक लोग करते हैं। वे साफ करना चाहते हैं कि दिल्ली के जंतर-मंतर पर लाखों किसानों का प्रदर्शन भी वास्तविक किसानों का नहीं बल्कि ऐसे ही असामाजिक तत्वों का बल प्रदर्शन होता है। पीछे ताकत किसी नेता की ही होती है। नेता ही ऐसे लोगों की हत्या करवाकर उसे किसान की आत्महत्या का नाम दे देता है ताकि उसकी राजनीति चमकती रहे। विधायक ने गुरुजी के बड़े पुत्र बड़कू की हत्या भी ऐसे ही करवा दी। पुलिस तंत्र भी विधायक की मुट्ठी में है। लोगों में भय पैदा करना ही ऐसे नेताओं का मुख्य काम होता है, जिससे वे अपना उल्लू सीधा करते रहें। बड़कू की हत्या और गुरुजी का खेत हड़पने की विधायक की भूमिका को स्पष्ट करते हुए लेखक के शब्द हैं- 'साला यह मास्टर समझता है कि वह लाट साहब बन गया है-इसका एक बेटा डॉक्टर क्या बन गया यह तो पगला गया है... दूसरा बेटा इंजीनियर बन गया है तो यह समझता है कि किसुनपुर के सभी आदमी उसके गुलाम बन गये... साला अब अपने खेत बेचेगा नहीं तो कहाँ जायेगा... अब देखता हूँ कि यह बुढ़ा कैसे नहीं बेचता है अपने खेत।' उसकी योजना है कि गुरुजी का खेत हड़पकर उस पर नया कारखाना लगवाए। लेखक साफ-साफ यह कहना चाहता है कि विकास के नाम पर खेतों को खत्म करते हुए नए आने वाले कल-कारखाने किसानों के लिए नासूर हैं। सरकारों की विकास योजनाएँ किसानों को लाभ न पहुँचाकर उद्योगों को खड़ा करने की हैं। खेत खत्म होंगे तो लोग खाएँगे क्या? अनाज कहाँ से आएगा? किसानों को मजदूर बनाने की यह शातिर चाल है।

लेखक गोस्वामीजी द्वारा बनाए गए त्रिभुज का तीसरा कोण है आज की पढ़ी-लिखी पीढ़ी। जिसे गाँव जाना, संबंधों को महत्व देना आदि बिना मतलब लगता है। गुरुजी के पुत्र पारस और माधव एक ही शहर में अपने खुद के परिवार के साथ रहते हैं। पारस पहले अपने पिताजी का ध्यान रखता था लेकिन उसकी पत्नी को अब यह लगने लगा है कि अपने हिस्से की जमीन बेचकर उससे शहर में ही कुछ किया जाए। माधव को भी उसने अपने साथ ले लिया है। यही कारण है कि बड़कू की मृत्यु का तार पाकर भी दोनों गाँव नहीं जाते बल्कि योजना बनाते हैं कि क्या किया जाय? वहाँ गुरुजी बड़े बेटे की लाश लेकर इंतजार करते हैं कि शहर से दोनों बेटे आ जाएँगे तो दाह संस्कार होगा और यहाँ पारस और माधव गाँव न जाने का बहाना ढूँढ़ते हैं। यही नहीं दोनों यह मौका हाथ से जाने नहीं देना चाहते कि यही समय है जब हमें अपने हिस्से की जमीन क्या पूरी जमीन बेचकर शहर आ जाना चाहिए। गुरुजी ने तीन-चार दिन बैलगाड़ी भेजी स्टेशन

पर परंतु दोनों बेटे नहीं आए तो उनका मन बैठ गया। दसवें के दिन आए भी तो बचते रहे कि कहीं उन्हें मुंडन न कराना पड़े नहीं तो उनका लुक खराब हो जाएगा।

खजुरिया तालाब के पास सभी इकट्ठे हैं। आज दसवाँ है। सबका मुंडन होगा। लेकिन माधव के लिए पारस कहता है कि उसके सिर में फुंसियाँ हैं तो पारस माधव के लिए कहता है कि उसे अगले महीने अमेरिका जाना है। झूठ बोलकर दोनों अपनी योजना के पहले चरण की सफलता पर खुश होते हैं। गुरुजी कहते हैं-“अरे तू क्यों नहीं समझता कि अब ये दोनों भाई शहरी बाबू बन गये हैं। ये दोनों क्यों करवायेगे अपना मुंडन? इनका कौन मरा है? लेखक ने शहरों के जीवन से शून्य होती संवेदनशीलता का पर्दाफाश किया है। शहर की स्वार्थपरता और एकाकी जीवन ने हमारी संवेदना को खत्म कर दिया है। परंपराओं और संस्कारों को मृत्यु जैसी दशा में भी तिलांजलि देने की आदत बनती जा रही है। शहर का व्यक्ति अब सामाजिक प्राणी न होकर केवल प्राणी ही बचा है। अपनों के दुख में भी उसे अब दुख नहीं होता बल्कि फर्ज अदायगी की रस्म पूरी की जाती है। माधव और मालती के जिद करने पर पारस कहता है कि ‘माधव इस बार छोड़ दो। हम दोनों फिर कभी बाबूजी से इस विषय पर बात कर लेंगे।’ परंतु मालती पर उसका विपरीत प्रभाव पड़ता है और वह चिल्ला उठती है-बाबूजी का दुख बढ़ता है तो बढ़े। बातचीत करने का इससे बढ़िया मौका आपको फिर कभियो नहीं मिलेगा।’ यह मौका है जमीन बेचकर शहर जाने का। मालती और माधव के माध्यम से लेखक कहना चाहता है कि शहर जाने, पढ़ा-लिखा होने का एक ही लाभ है कि गाँव से संबंध तोड़कर सब कुछ शहर ले चलो।

जिस विधायक की शांतिर चाल के आगे घुटने टेकने से इनकार करने पर बड़कू की हत्या हो गई, उसी के सामने पारस और माधव जमीन बेचने का प्रस्ताव खुशी-खुशी ले जाना चाहते हैं। इससे बड़ी विडंबना और क्या होगी? लेखक के पास इस प्रश्न का उत्तर है। वह गुरुजी को पश्त हिम्मत दिखाने के बजाय उनकी हिम्मत और बढ़ा देता है। गुरुजी शहरी बेटों के प्रस्ताव का विरोध करते हुए अपना फैसला सुनाते हैं-“मेरी जायादाद में हिस्सा उसे ही मिलेगा, जो इस किसुनपुर में रह कर यहाँ के खेतों को संभालेगा। जो ऐसा नहीं कर सकता, उसे आज से न मैं अपना बेटा मानूँगा और न उसे अपनी जायदाद में कोई हिस्सा ही दूँगा। लेखक यहाँ यह कहना चाह रहा है कि शहर जाकर कमाना अच्छी बात है लेकिन गाँव को भूल जाना, गाँव को मुसीबतों का घर मानना और उससे जान छुड़ाने की कोशिश करना बेमानी है। इसीलिए गुरुजी अपने दोनों पोतों के साथ आगे बढ़ते जा रहे हैं। लेखक ने इस उपन्यास में गाँवों और किसानों के दुश्मन के रूप में राजनीतिक तथा शहरी सोच के लोगों को प्रस्तुत किया है। वह मानता है कि राजनीतिक नेता अपना स्वार्थ पूरा करने के लिए किसानों के आंदोलन का सहारा लेते हैं। उनके मन में किसानों की भलाई नहीं बल्कि खेतों की मलाई का ध्यान रहता है। शहरों में जाकर

गाँवों को भूल जाने वाले भी गाँवों और किसानों के दुश्मन है। लेखक उत्तम खेती की विचारधारा को फलवती बनाने की पैरोकारी करता है यहाँ। लेकिन मुख्य मुद्दा है सोच की शुचिता की। गुरुजी के अंदर का शिक्षक जब जाग उठता है तो वे कहते हैं-“शहर के नाम से मैं कभी नहीं चिढ़ता। मुझे चिढ़ है तुम जैसे नकली और अंधे शहरवादियों से, जो शहर के अलावा कुछ देख नहीं पाते।” वे गाँव को जीवन का केंद्र मानते हुए कहते हैं-“परिधि रेखा के सहारे नहीं बनती है। परिधि केंद्र के सहारे बनती है-केंद्र बिन्दु के सहारे। केंद्र बिन्दु न हो तो कोई भी परिधि नहीं बन सकती।”

आशय यह कि जीवन का केंद्र तो गाँव ही है। हमारे सुख-दुख उतार-चढ़ाव सब कुछ गाँव के सामुदायिक जीवन में साँस लेते हैं। शहरों में जाकर कमाकर गाँव के संस्कार और जीवन को भूलना श्रेयस्कर नहीं है। शहरी गिद्ध बनकर गाँव के माश का इंतजार करना उचित नहीं।

कार्याध्यक्ष,
महाराष्ट्र राज्य हिंदी साहित्य अकादमी, मुंबई
■ ■ ■

कथाकार गोस्वामी का सृजनवृत्त और चक्रव्यूह

विद्याभूषण

मौजूदा व्यवस्था को अमानवीय तंत्र के रूप में ढालने वाले कारकों की पहचान हिंदी कथा साहित्य का केन्द्रीय कथ्य है। इसी वृत्त में समकालीन कथा-लेखन की जनपक्षीय भूमिका के प्रति सामाजिक सरोकारों से जुड़े प्रयोजनधर्मी रचनाकार की राजनीतिक प्रतिबद्धताएँ चाहे जो भी हों, उनमें इस बिंदु पर कोई बहस नहीं कि भ्रष्टाचार हमारे राष्ट्रीय जीवन का अभिन्न चरित्र बन चुका है। कथालेखक इस सामयिक संदर्भ को छुए बिना प्रासंगिक नहीं हो सकता। यही हमारे समय का जीवन-संग्राम है जिसके व्यूह उद्देदन के लिए संघर्षशील आज का अभिमन्यु छापामार षड्यंत्रकारियों के आक्रमण से घिर कर क्षत-विक्षत होने को अभिशप्त है।

‘चक्रव्यूह’ विश्वविद्यालय परिसर के ऐसे ही भ्रष्टाचारी यथार्थ की मिडशॉट में ली गयी तस्वीरों का अलबम है, फीचर फिल्म की जीवंत शैली में विश्वसनीय वस्तु अंकन की औपन्यासिक कृति। श्रवणकुमार गोस्वामी की इस सातवीं उपन्यास-रचना को सीधी-सादी भ्रष्टाचार कथा की बजाय व्यवस्थाभंजक दुष्चक्र की कहानी कह लें तो ज्यादा सटीक होगा। इस उपन्यास के ताने-बाने में पतनशील व्यक्तियों की यदि कोई निजी जिंदगी है तो उसकी किसी तफसील का बयान दर्ज नहीं है। जाहिर है कि उपन्यासकार की दिलचस्पी व्यक्तियों के सार्वजनिक जीवन में ही है। इसमें विश्वविद्यालय परिसर में अपने न्यस्त स्वार्थों के वर्गीय हितों के लिए एकजुट हो गये भ्रष्टाचारियों की संगठित शक्ति का दिलचस्प आकलन हुआ है। इस दृष्टि से ‘चक्रव्यूह’ भ्रष्टाचार का मनोवैज्ञानिक आख्यान नहीं, कदाचार का समाजशास्त्रीय विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

एक अनुमान के अनुसार हिंदी में प्रतिवर्ष लगभग ५०० उपन्यास छपते हैं जिनमें ४०-६० कृतियों को ही चर्चा मिलती है। इसमें सदेह नहीं कि ‘चक्रव्यूह’ ऐसी किसी भी चर्चा में शामिल होने योग्य एक विशिष्ट कृति है। सुपरिचित कथाभूमि के उपन्यासकार का एक संकट यह भी होता है कि कथानक में नयेपन के अभाव के कारण रोचकता की जो कमी हो सकती है उसे दिलचस्प किस्सागोई से भरा जाये। साथ ही लोकप्रिय होने और पाठकत्व को आमंत्रित करने के मोह में चौंकानेवाले, विस्फोटक और रंगीन

घटनाक्रम के अनर्गल उपयोग से भी उसकी प्रामाणिकता को खतरा हो सकता है। कहने की जरूरत नहीं कि श्रवणकुमार गोस्वामी ने इन दोनों चुनौतियों को एक सीमा तक कुशलतापूर्वक स्वीकार किया है और अपनी संयमित कथादृष्टि की मुहर भी लगायी है। बड़ी बात यह है कि 'चक्रव्यूह' में जयद्रथों की भ्रष्टाचार-कथा उपन्यासकार की पसंद नहीं, विवशता बन गयी है।

इस प्रसंग में स्मरणीय है कि 'चक्रव्यूह' अपने मिशन में विफल डॉक्टर शैलेश की जीवनी नहीं है, विश्वविद्यालय परिसर के सहस्रमुखी संकटों से जूझने की संकल्पशक्ति और समझ की पराजय का इतिवृत्त है। डॉक्टर शैलेश ने पूरी व्यवस्था का कायाकल्प करने में एक ईमानदार व्यक्ति की सीमा को स्वीकार करते हुए इस्तीफा दिया है। वे अपने निजी लाभ-लोभ के लिए न झुकते हैं, न समझौते करते हैं। अपनी निष्ठाओं के लिए संघर्षशील व्यक्तियों के प्रति उपन्यासकार की आस्थाशीलता न किताबी है न काल्पनिक। उसमें किसी किस्म की स्पर्श क्रांतिकारिता का जयघोष भी नहीं है और न ही आरोपित आदर्शवाद का महिमामंडन ही। यह स्थितिजन्य, विश्वसनीय और सार्थक वस्तुबोध की एक स्वीकृति है।

एक उपन्यासकार के रूप में 'चक्रव्यूह' से पहले के छह उपन्यासों की रचनायात्रा में श्रवणकुमार गोस्वामी कई सवालों के घेरे में रहते आये हैं। उनके आलोचकों को उनसे शिकायत रही है कि उनका यथार्थबोध स्थितियों के औसत सरलीकरण से जन्म लेता है। परिणामतः उनके चरित्र या तो प्रतीक हैं या वर्ग चरित्र, और जहाँ वास्तविक चरित्र हैं भी तो उपन्यासकार उनके बहिरंग से ही जुड़ता है, चरित्रों का अंतरंग अनदेखा, बेपहचाना रह जाता है, साथ ही यह भी कि कथाकौशल में एकरस वर्णनात्मकता चलती रहती है।

'चक्रव्यूह' इन सभी सवालों का एक सटीक उत्तर है। इसमें कथाकार ने अपनी कई पूर्व रूढ़ियों को तोड़ा है और एक विस्तृत कथा फलक पर प्रयोजनमूलक कथात्मकता को पठनीय और स्वीकार्य भी बनाया है। वैसे, श्रवण जी की कुछेक आत्मनिर्मित रूढ़ियों और लक्ष्मण रेखाओं की चर्चा अप्रासंगिक नहीं होगी जिन्हें वे इस उपन्यास में झटक चुके हैं, किंतु वे उनके कथालेखन के विकासक्रम के सौपानिक अध्याय अवश्य हैं।

अपने कई उपन्यासों में श्रवणकुमार गोस्वामी की कथादृष्टि आदर्शवादी भावनाशीलता से प्रेरित और परिचालित हुई है। देश की दुर्दशा और नैतिक मूल्यों के अवमूल्यन की चिंता उनकी दूसरी चिंताओं पर भारी है। और यही उनकी सामाजिक सरोकार से जुड़ी रचनाशीलता को उद्वेलित भी करती है। आजादी के बाद की कालावधि में राष्ट्रीय जीवन की पतनशील वास्तविकताओं और उच्चतर जीवनमूल्यों के विघटन के कारण मोहभंग की जो प्रक्रिया शुरू हुई, उसके संकट को गोस्वामी ने भी अपनी पीढ़ी के अन्य नागरिकों की तरह झेला है। इसका दस्तावेजी प्रमाण हैं उनकी औपन्यासिक कृतियाँ-भारत बनाम

इंडिया, दर्पण झूठ न बोले और राहु-केतु। लगता है, अपसंस्कृति के प्रसार से तालमेल की असुविधा की स्थिति में उनकी आदर्शवादी रचनादृष्टि नये प्रतिमानों की तलाश में रही है। परिणामस्वरूप जैक फिलिप (भारत बनाम इंडिया) और तिलकराज (राहु-केतु) जैसे चरित्रों के प्रति वे सहज सहानुभूतिशील हो उठते हैं या भारत, जनता और जमाना जैसे प्रतीक चरित्रों की सृष्टि करते हैं। एक बात और ध्यान खींचती है कि संभवतः प्रेमचंद की विरासत से प्रेरित होते हुए उनके कई केन्द्रीय चरित्र सामान्य सुलभ मानवीय दुर्बलताओं से ऊपर दिखलायी पड़ते हैं - सिद्धांतनिष्ठ, समर्पित, आदर्शवादी, संवेदनशील और जुझारू। इस अवधारणा की स्पष्ट झलक अमर, तिलकराज, भारत, जैक फिलिप, जनता, कृष्णकांत और चक्रव्यूह के डॉक्टर शैलेश में देखी जा सकती है। वैसे डॉक्टर शैलेश उनकी सर्वाधिक संतुलित चरित्र सृष्टि हैं। इसे मैं श्रवण जी की जीवनदृष्टि में रूमानी यथार्थवाद से सामाजिक यथार्थवाद के विकास के रूप में मान्यता देता हूँ। यह सुख भी है और तर्कसंगत भी।

वैसे एक खतरा अभी भी बचा रह गया है कि वे अपने चरित्रों को परिवेश और परिसर बदल-बदल कर कहीं दोहराने के मोह में न बँध जाएँ! यह सिर्फ संयोग नहीं कि 'राहु-केतु' में जो आख्यान उद्योग नगर स्थित राष्ट्रीय उद्योग निगम के दायरे में चित्रित किया गया है, 'चक्रव्यूह' में कुछ वैसा ही एक बदले हुए संदर्भ में पहाड़ी प्रदेश के पहाड़ी विश्वविद्यालय में भी घटित हुआ दिखता है। इन दोनों उपन्यासों के कथातंतुओं को बारीकी से परखा जाए तो इन दोनों में एक अद्भुत साम्य दिखलायी पड़ेगा। एक कर्तव्यनिष्ठ संगठन प्रमुख की नियुक्ति, उसके मजबूत सुधारवादी कदम, उससे डरी और बौखलायी भ्रष्ट नौकरशाही और जाति-क्षेत्र के आधार पर सत्तासीन राजनीति का आवाँछित हस्तक्षेप, भ्रष्ट तत्त्वों और न्यस्त स्वार्थों का संगठित अभियान और उस संघर्षशील अधिकारी द्वारा आत्मसम्मान पूर्वक समय पूर्व इस्तीफा। जीवन में ऐसे नमूने चाहे जितने भी मिल जाएँ, औपन्यासिक कथालेखन में यह दुहराव एक ठहर गयी रचनादृष्टि का विभ्रम पैदा करता है।

'चक्रव्यूह' परिवेश केंद्रित या परिसर उपन्यास है। हालाँकि इसमें चरित्र प्रधान कथानक की तकनीक इस्तेमाल की गयी है। घटनाक्रम का ताना-बाना डॉ. शैलेश के इर्द-गिर्द बुना गया है। पहाड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति के रूप में उनकी नियुक्ति ने जैसे प्रशासन के ढाँचे को एक नये सिरे से हरकत में ला दिया है-पूर्व कुलपति डॉ. पीटर की उग्र प्रतिक्रिया और नये कुलपति के खिलाफ वातावरण बनाने की साजिश के तहत अनेक घटना-प्रसंग और कथा-मोड़ आते हैं-दायित्वों के प्रति डॉ. शैलेश की निष्ठा और सख्त कार्यशैली से निकम्मेपन की गिरफ्त में जकड़े प्रशासन तंत्र का पुर्जा-पुर्जा गतिशील होने के दबाव का अनुभव करता है। फिर न्यस्त स्वार्थों की तिकड़ी-चौकड़ी जुटने लगती है और बाकायदा चरित्र हनन और प्रतिरोध के कई मोर्चे खुल जाते हैं। विश्वविद्यालय के अधिकारी, विभागाध्यक्ष, प्राचार्य संघ, कर्मचारी यूनियन और छात्रों की अलग-अलग

मोर्चाबंदी। फिर रसद मार्ग भी अचानक बंद हो जाता है यानी सत्ता-राजनीति के संरक्षण के रास्ते जाति के घटिया समीकरण बनने से डॉ. शैलेश अकेले पड़ जाते हैं। इस तरह भ्रष्टाचार के चक्रव्यूह में एक और अभिमन्यु वीरगति को प्राप्त करता है।

इस भ्रष्टाचार कथा में भटकाव की बहुमुखी संभावना थी कि प्रयोजनधर्मी कथादृष्टि भूलभुलैया की अंधेरी गलियों में भटक जाती। श्रवण जी ने भ्रष्टाचार का कीर्तन नहीं बल्कि निरूपण किया है। कुचक्री यथार्थ की इस रोचक कथा में पूर्वाद्ध तक घटनाक्रम के तीव्र विकास से कथा-प्रवाह गतिशील रहता है किंतु उत्तराद्ध में यह गति मंद हुई है, लेकिन इतना मंथर भी नहीं कि उपन्यास की पठनीयता मुश्किल में पड़ जाये। बहरहाल 'चक्रव्यूह' हारे को हरिनाम नहीं, इन्कलाब जिंदाबाद है।

कभी मैंने उनके उपन्यासों की शिल्पविधि पर ब्योरे में लिखा था और उसे यथेष्ट मान लिया था। आज लगता है उतने भर से उनके लंबे कार्यकाल की समुचित परिक्रमा नहीं हो जाती। उनके लेखन के कई पहलू हैं जो उन्हें बिन्दु से वृत्त का विस्तार देते हैं। वैसे उनकी मुख्य पहचान दर्जन भर उपन्यासों के रचनाकार के रूप में ही पुख्ता होती है। 'जंगलतंत्रम', 'केन्द्र और परिधि' और 'कजरी' जैसी उनकी कुछेक कथाकृतियाँ अपने लघु कलेवर के बावजूद बड़े अर्थ-संदेश देती हैं जबकि बड़े आयतन के उपन्यासों में समय और समाज के बहुमुखी सवाल और समस्याग्रस्त यथार्थ रोचक अंदाज में शामिल हैं। उनकी शुरुआती कहानियों का संकलन है 'जिस दीये में तेल नहीं' और 'प्रतीक्षा' शीर्षक कहानी संग्रह में उनके कथायन में उनके अनुभवों की थाती सिमट आयी है।

साहित्य अगर जिन्दगी की रिपोर्टिंग है तो सामयिक जीवन की अनेकपक्षीय जटिलताओं को अभिव्यक्ति के किसी एक साँचे में नहीं उकेरा जा सकता। नतीजतन लेखक कई साहित्य विधाओं में अपने कथ्य को विभाजित करता है। गोस्वामी जी ने इसी तकाजे के तहत रेडियो और मंच नाटक लिखे (कल दिल्ली की बारी है, समय, सोमा), हास्य और व्यंग्य को औजार बनाया (उड़नेवाला तालाब, पति-सुधार-केन्द्र, हमारी मांगें पूरी करो), कथात्मक ब्योरे में जेल-संस्मरण लिखा (लौह कपाट के पीछे)। समग्रता में देखें तो कहना पड़ेगा कि श्रवणकुमार गोस्वामी ने जो कुछ लिखा, सादगी और ईमानदारी से लिखा। उनमें वैचारिक पक्षधरता की जगह आदर्शवादी निष्ठा की खोज फलदायी हो सकती है। लेखक संगठनों, जमातों, गुटों से बाहर रह कर उन्होंने अपना कलमी सफर बनाये-बचाये रखा है। आठ दशकों से अधिक लंबे जीवनपथ में उनको मिले मान-सम्मान से सात्विक ईर्ष्या हो सकती है।

गोस्वामी जी अपने भाषिक रुझानों के लिए भी याद किये जा सकते हैं। कभी उन्होंने देवनागरी के संवर्द्धन हेतु एक प्रस्तावना जारी की थी। झारखंड की प्रमुख जनभाषा नागपुरी को उनका योगदान भी चर्चायोग्य है। उन्होंने अपने शोधग्रंथ में जार्ज ग्रियर्सन की

स्थापना को खंडित करते हुए नागपुरी को पूरबी हिन्दी की बोलियों में एक होने की सनद का निषेध करते हुए एक अलग भाषा के रूप में मान्यता देने की एकेडमिक पहल की थी। इस दिशा में उनकी पुस्तक 'नागपुरी भाषा' बिहार राष्ट्रभाषा परिषद ने प्रकाशित की थी और उनके शोध प्रबंध के एक खंड का प्रकाशन 'नागपुरी शिष्ट साहित्य' के रूप में हुआ। 'नागपुरी और उसके बृहत त्रय' को भी क्षेत्रीय भाषा-साहित्य में महत्वपूर्ण माना गया है। रेडियो प्रसारण के क्रम में गोस्वामी का एक नागपुरी धारावाहिक नाटक अपने समय में चर्चित रहा था।

उनके कई दूसरे कार्य भी निस्संदेह उल्लेख्य रहे हैं। जैसे - साहित्य अकादमी के लिए भारतीय साहित्य के निर्माता श्रृंखला के लिए लिखित-प्रकाशित पुस्तक राधाकृष्ण। डॉ. बुल्के स्मृति ग्रंथ का सह-संपादन डॉ. दिनेश्वर प्रसाद के साथ। 'रामचरित मानस' के मुंडारी अनुवाद का संपादन दुलाल चन्द्र मुंडा के सहयोग से। 'लौह कपाट के पीछे', 'अटल जी के नाम एक धारावाहिक पत्र' और 'रांची: तब और अब' जैसी विलक्षण कृतियाँ भी इसी कलम की उपज हैं।

श्रवणकुमार गोस्वामी की लगभग दो दर्जन विविध विधाओं की पुस्तकों के हजारों पन्नों से गुजर कर मैं खुद से, और आपसे भी, पूछना चाहता हूँ कि हिन्दी आलोचना-इतिहास ने इस बुजुर्ग लेखक को कहाँ जगह दी है! चुनाव जीत कर एक औसत हिन्दी लेखक जब अकादमी की कुर्सी पर जम जाता है, तो उसकी जयकार में कलम और हाथ उदार हो जाते हैं। सरकारी-गैरसरकारी संस्थानों में बड़े पदों पर पहुँचे महाजनों के लिए स्वागत के तोरण द्वार सहज सुलभ हो जाते हैं, लेकिन सिर्फ कलम और आत्मसम्मान के बूते जीवनपर्यन्त कलम घिसते हुए, बेहतर लिख कर भी, हाशिए में पड़े लोग किसी 'दीदावर' के इन्तजार में कब तक दम तोड़ते रहेंगे?

प्रतिमान प्रकाशन, शिवशक्ति लेन,
किशोर गंज, हरमू रोड, रांची-834001
दूरभाष : 9955161422



समकालीन अभिव्यक्ति : एक टुकड़ा सच

डॉ. उषा मिश्रा

श्रवण कुमार गोस्वामी जी अपने समय के यथार्थ को बड़े सीधे- सीधे प्रस्तुत करने के लिए जाने जाते हैं। इस शैली को उनकी विशेषता के रूप में भी देखा जा सकता है और कमजोरी भी मानी जा सकती है। अपनी रचनाओं में इन्होंने समाज और राजनीति में फैले शोषण, अन्याय, दिखावे की प्रवृत्ति को सपाट भाषा में प्रस्तुत किया है। गोस्वामी जी के अब तक 9 उपन्यासों के साथ-साथ नाटक, एकांकी, कहानी संग्रह तथा जेल-जीवन के अनुभव को लेकर एक पुस्तक 'लौह कपाट के पीछे' प्रकाशित हो चुकी है। इसके अतिरिक्त उन्होंने कई पुस्तकों का सम्पादन भी किया है। साहित्यिक विधाओं पर कुशल लेखन के साथ उन्होंने अपने प्रदेश राँची के इतिहास पर एक पुस्तक लिखी है, जो 2008 में 'राँची तब और अब' नाम से प्रकाशित हुई है। इस पुस्तक में उन्होंने सात दशकों के राँची के इतिहास को ब्यौरेवार प्रस्तुत किया है। आज भी आप लेखन-कार्य में सक्रिय हैं, देश की प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में आपके लेख प्रकाशित होते रहते हैं। श्रवण कुमार गोस्वामी द्वारा लिखा गया उपन्यास 'एक टुकड़ा सच' 2001 में प्रकाशित हुआ था।

आलोच्य उपन्यास का प्रकाशन वर्ष भले ही 2001 है परन्तु उपन्यास की पृष्ठभूमि आपातकाल के आस-पास की है, जिसमें तत्कालीन भारतीय समाज और राजनीति की विसंगतियों को चित्रित किया गया है। उपन्यास के केंद्र में तो रचनाकार ने एक स्त्री को रखा है पर विमर्श के रूप में नहीं बल्कि उसके रूप, सौन्दर्य और चातुर्य रूप में। उपन्यास को पढ़ते-पढ़ते कई बार ऐसी भ्रामक स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि उपन्यास के मूल में नीलम नाम की युवती है या राजनीति में विराजमान वे तथाकथित कद्दावर, पतनशील नेता, जो देश को अपनी उँगलियों पर चलाते हैं। उपन्यास में घटने वाली घटनाओं का शिकार तो जन सामान्य होता है पर उसके सूत्रधार या तो राजनेता होते हैं या उनके द्वारा पाले-पोसे समाज विरोधी तत्व। उपन्यास पढ़ने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि चार खम्भों पर चलने वाले देश को मात्र और मात्र नेता ही चलाते हैं।

कथानक का प्रारम्भ कर विभाग के कमरा नम्बर 24 से होता है, जो 'कचराखाना' और आगे चलकर 'वकालतखाना' के नाम से जाना जाता रहा। उसके वर्णन से ही लेखक

ने सरकारी तंत्र का ऐसा चित्रण किया है कि पाठक के समक्ष एक ऐसा बिम्ब उभरता है जिसे वह अपने आस-पास के सरकारी कार्यालयों में देखता रहता है। साथ ही सरकारी कर्मचारियों का चरित्र भी अपनी सच्चाई के साथ उभरता है। 'कचराखाना' उस वक्त से 'वकालतखाना' के नाम से जाना जाने लगा जब कुछ नए वकील वहाँ बैठने लगे थे। अलग-अलग नामों से अपनी पहचान बनाने वाला कमरा और उसमें बैठने वाले वकील एक तरह से उपन्यास में सूत्रधार का काम करते हैं। वहीं से नयी-नयी खबरें निकलती हैं, जन्म लेती हैं और उनसे ही उपन्यास का विकास होता है। इस वकालतखाने का पहला चरित्र अरविन्द है, जो वहाँ बैठने वाले आठ-नौ वकीलों का भरोसेमंद है, आदरणीय है। उसके हर कार्य को लोग मात्र सराहते ही नहीं हैं अपितु उसका पूरा साथ देते हैं। अरविन्द युवा है, ईमानदार है, उसे नियमों की अच्छी जानकारी है, लोगों का भला चाहता है। वह स्थानीय दैनिक प्रकाशित पत्र 'नगर एक्सप्रेस' में समय-समय पर ज्वलंत मुद्दों पर लिखता रहता है परन्तु कर अपवर्चन निरोध शाखा अर्थात् इंटेलिजेंस ब्रांच में ठाकुर हरिमोहन सिंह के आगमन से स्थितियाँ बदलने लगती हैं। बकौल अरविन्द, ठाकुर हरिमोहन सिंह 'देखने में किसी फिल्मी हीरो से कम नहीं'। लिबास खादी, चार-चार स्वर्ण पदक धारी, आग मार्का ईमानदार, नशा मुक्त जीवन और रियासत नैनागढ़ के दामाद। कुल मिलाकर वकालतखाने के लिए आशा की किरण और घूसखोर अधिकारियों तथा भ्रष्टाचार को बढ़ावा देने वाले व्यापारियों के लिए खतरे की घंटी के रूप में ठाकुर जगमोहन सिंह का आगमन उपन्यास में होता है। अरविन्द द्वारा रखे गए प्रस्ताव के अनुसार ठाकुर हरिमोहन का स्वागत वरिष्ठ वकील सिन्हा साहब की अध्यक्षता में किया जाता है। हरिमोहन की पत्नी नीलम के शहर में आते ही अरविन्द पूरी तरह बदल जाता है। तत्पश्चात् वकालतखाने में अरविन्द की जगह अजय लेता है। पिता के राजनीति में होने के बावजूद अजय देश की वर्तमान राजनीति से विरोध करता है। अंत तक वह अपने सिद्धांतों पर अटल रहता है। राजनीतिक पैतरेबाजी की अच्छी पकड़ होने के कारण ही वह अपने मित्र श्रीप्रकाश से उपन्यास के अंत में कहता है कि नीलम ने जो चाल चली है उससे उसका राजनीति में आना तय है और राजनीति में आने के बाद उसे कोई आगे बढ़ने से रोक नहीं सकता "क्योंकि नीलम ने पगडंडी छोड़कर अब राजपथ पर चलना शुरू कर दिया है।" उसकी भविष्य वाणी शत-प्रतिशत सच निकलती है।

बहरहाल हरिमोहन के आ जाने पर मंडी में यह खबर आग की तरह फैल जाती है कि नया अधिकारी अन्य अधिकारियों की तरह घूसखोर नहीं है। इससे व्यापारी डरे हुए भी थे। हरिमोहन द्वारा पहला छापा अनाज मंडी के सेठ रामस्वरूप के यहाँ पड़ा। इसी बीच ठाकुर हरिमोहन सिंह की तारिका पत्नी उनके साथ रहने आ गयी। उसने 'कांच घर' और 'किसका देश' नामक दो फिल्मों में काम किया था। सुन्दरता की बात करें तो सोलह कलाओं में पूर्ण जिसकी भी नजर उस पर पड़े हटती नहीं। उसकी विशेषता है कि

ऊपर से लेकर नीचे तक एक ही रंग के वस्त्र और आभूषण। उसे शहर से दूर यहाँ भी लोग जानते थे, यह उसके लिए गर्व की बात थी। स्वयं गाड़ी चलाती थी। (संभवतः उन दिनों स्त्रियों का गाड़ी चलाना सामान्य बात नहीं रही होगी।) उपन्यास में नीलम के प्रवेश के बाद कथानक एक नया रूप लेता है। पहले पहल तो नीलम जिसकी दुकान पर जाती लोग धन्य हो जाते पर उन्हें जल्द ही पता चल जाता है कि यह जिसके यहाँ जायेगी उस पर छापे जरूर पड़ेंगे। नीलम का पहला शिकार दर्जी बनता है। उसके बाद तो यह क्रम बन जाता है कि जो भी दुकानदार उससे सामान के बदले में मूल्य की बात करता है, उसे वह अपने पति के अधिकारी होने की धोंस जमाती है और दूसरे दिन उसकी दुकान पर छपा पड़ जाता है। अरविन्द जैसे ईमानदार आदमी को नीलम धीरे-धीरे अपने रंग में रंग लेती है। जैसे-जैसे अरविन्द की प्रगाढ़ता नीलम से बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे वकालतखाना से उसका सम्बन्ध कम होते-होते समाप्त हो जाता है। इधर नीलम का दुकानों पर जाना और फिर हरिमोहन द्वारा दुकान पर छपा मारना तत्पश्चात व्यापारी के पेपर नीलम तक पहुँच जाना, उसके बाद अरविन्द का बिचौलिया बनकर पार्टी को पेपर वापस दिला देना, यह उनका नियमित का काम बन गया। उनके शिकार सेठ रामस्वरूप के अलावा गहना घर के मालिक, फर्नीचर मालिक, इस्पात वाला, किरानावाला, बूट पॉलिश बनाने की फैक्टरी वाला इत्यादि बन चुके थे। ईमानदारी का ढोंग रचने वाला हरिमोहन पूरी तरह भ्रष्ट निकला, न्याय की बातें करने वाला अरविन्द दलाल बनकर रह गया और अपनी खूबसूरती से लोगों के दिल में राज करने वाली नैनागढ़ की राजकुमारी अपना तन, मन और धन बेचकर लक्ष्मी की पुजारिन बन गयी।

सरकार और सरकारी अधिकारियों के बारे में आम आदमी की राय उपन्यास में बहुत ही स्पष्ट दी गयी है। उपन्यास के एक पात्र ताहिर अली के शब्दों में—‘इस विभाग का मकसद ही है—खाओ और खाने दो। व्यापारी जनता से जितना कर वसूलता है, वह सरकार को कभी नहीं देता। वह मुनाफा भी कमाता है और टैक्स की चोरी भी करता है। इस प्रकार वह दो तरह से खाता है। वह खाता है इसलिए हमें भी खिलाना है। हम खाते हैं इसलिए हम ऊपरवाले को भी खिलाने हैं और वित्त मंत्री को भी देते हैं। हम खिलाने हैं इसलिए हमें कमाई वाली जगह मिलती है। जो आदमी ज्यादा से ज्यादा रुपये बटोरकर मुख्यमंत्री को दे सकता है, उसे ही वित्त मंत्री बनाया जाता है।’ उपरोक्त पंक्तियों से यह स्पष्ट होता है कि उस समय इस तंत्र में नीचे से लेकर ऊपर तक सभी भ्रष्ट थे। (स्थिति आज भी कमोबेश वही है।) अपना अधिक नुकसान होते देख अजय के माध्यम से व्यापारी वर्ग एकजुट होकर विरोध जताते हैं और अपनी शिकायत ऊपरवाले अधिकारी तथा मंत्री तक पहुँचाते हैं। नेता सत्तासीन होने के लिए और अपनी कुर्सी बचाए रखने के लिए एक नहीं कई दांव-पेंच खेलते रहते हैं और अपने कारिंदे लोगों के बीच छोड़ रहते हैं। इसी तरह का कांग्रेस का एक कारिन्दा (दलाल) मनोरंजन है जो सेठ रामस्वरूप

का हितैषी बनकर हरिमोहन से उसकी दुकान के पेपर लेने की कोशिश करता है परन्तु हरिमोहन यह कार्य करने से इनकार कर देता है। वहीं आगे चलकर मजदूर वाले केस में मनोरंजन ही उन्हें उबारता है, यह कहते हुए कि उसका कोई तो? नहीं है, कोई उसकी पहुँच से परे नहीं है। इसी तरह का काम करने के लिए हरिमोहन तथा नीलम अरविन्द को चुनते हैं। अरविन्द को अपने वश में करने के लिए नीलम उसके परिवार को सब्ज बाग दिखाने के साथ-साथ अपने खूबसूरत शरीर का भी उपयोग करती है। अरविन्द को लगता है कि नीलम उसके साथ भावनात्मक रूप से भी जुड़ी है परन्तु नीलम के लिए अरविन्द एक प्यादे के अतिरिक्त कुछ नहीं था।

व्यापारियों का विरोध जब मंत्री तक पहुँचता है तो उपन्यास में चरित्रहीन, भ्रष्ट परन्तु पार्टी के लिए 'कमाऊ पूत' वित्त मंत्री अजेय सिंह का पदार्पण होता है। लेखक के शब्दों में— 'यह नाम उस आदमी का, जो शायद पैदा ही हुआ था, अपने प्रदेश में बराबर वित्त मंत्री बने रहने के लिए....अपने मातहत आने वाले हर महकमे से पैसा वसूलने में इस आदमी को महारत हासिल थी। यह अक्सर दौरे पर ही रहता था। यह जहाँ जाता, वहाँ इसके केवल तीन ही काम हुआ करते थे। दिन को पार्टी के कार्यकर्ताओं से मिलना और बातें करना। रात्रि को आठ बजे से ग्यारह बजे तक अपने अधीनस्थ अधिकारियों को अपने पास बुलाना और उनसे थैली वसूलना इसके बाद उसका जो कार्यक्रम शुरू होता, उसे वह 'रास लीला' कहा करता था। यह रास लीला हर रात को होती थी और इस रास लीला में हर रात एक नई गोपी के साथ अजेय सिंह लीलालीन होता था। समाचार पत्रों में अजेय काण्ड पर खबर छपने तथा विधान सभा में बहस होने के बावजूद इस पर कोई कार्रवाई नहीं हुई क्योंकि यह कमाऊ पूत पार्टी के लिए बहुत 'उपयोगी जंतु' था। आज अजेय सिंह की गोपी नीलम थी, इनके साथ नीलम की बड़ी और पुरानी घनिष्ठता थी। इसी घनिष्ठता के चलते हरिमोहन का केस रफा-दफा हो जाता है।

नीलम अपनी चरित्रहीनता को बड़ी खूबसूरती से अरविन्द से बयाँ करती है— 'अरविन्द, दुनिया में कुछ पाने के लिए कुछ देना पड़ता है। प्रकृति ने नारियों को बहुत बड़ा तोहफा दिया है—रूप। इसे देकर, दुनिया में नारी कुछ भी पा सकती है मगर, इसे देने से नारी का कुछ भी कम नहीं होता। वह पूर्ववत् ही बनी रहती है। उसका कुछ भी नहीं बिगड़ता कम-से-कम मैं तो यही मानती हूँ।' नीलम इस कहावत पर अपना जीवन चलाती थी कि 'हाथी चले बाजार, तो कुत्ता भूके हजार' इसलिए अखबार में इन सबके बारे में बार-बार भ्रष्टाचार की खबर छपने पर हरिमोहन और अरविन्द तो डर जाते हैं पर नीलम नहीं डरती। हरिमोहन से झगड़े के दौरान वह कहती है कि मेरे रहते तुम्हें नौकरी की चिंता करने की जरूरत नहीं है। मैं यदि तुम्हें मास्टर से अफसर बना सकती हूँ तो यह भी जानती हूँ कि तुम्हारी नौकरी कैसे बचेगी? और अगले दिन अखबार में एक ऐसी खबर छपती है जिसमें हरिमोहन पूरी तरह से नीलम द्वारा किये गए सारे भ्रष्टाचार से बच जाता

है। इतना ही नहीं अपने सपने का घर बनवाने के लिए वह अगला शिकार 'रंग ही रंग' के मालिक जलील शाह को बनाती है। घर के लिए सामान ही नहीं लेती बल्कि एकमुश्त मोटी रकम के साथ-साथ पांच हजार महीने का इंतजाम कर लेती है।

नीलम के भ्रष्टाचार से लेकर चरित्रहीनता तक के सफर में हरिमोहन उसके साथ रहता है, साथ देता है। सरकारी अधिकारी हो, वित्तमंत्री हो या मुख्यमंत्री हो, सबसे अपने यौवन के बल पर काम करवाती है। लेखक ने एक ऐसे पति-पत्नी का चित्र उपन्यास में अंकित किया है, जो दाम्पत्य रिश्ते को तार-तार कर देता है। उपन्यास में हरिमोहन के मात्र व्यक्तित्व को रूपायित किया गया है परंतु नीलम के बाह्य व्यक्तित्व का जितना प्रभावी चित्र खींचा गया है, उसका अंतर उतना ही स्वकेन्द्रित एवं स्वार्थी है। उसका संपर्क विशेष व्यक्तियों से ही रहता है और संपर्क के लिए वह शरीर रूपी माध्यम को चुनती है। कुछ विशेष व्यक्तियों को छोड़कर वह अपने निजी जीवन में प्रवेश करने का अधिकार किसी को भी नहीं देती। अपने पति तक को नहीं। नीलम के कुछ दिन घर से बाहर रहने पर अरविन्द जब उससे जानना चाहता है तो वह दो टूक जवाब देते हुए कहती है— 'मैंने तुम्हें थोड़ी छूट क्या दे दी कि तुम यह समझ बैठे हो कि तुम मेरे स्वामी हो गए हो। हर पुरुष की यही तो कमजोरी होती है। औरत जैसे ही उसे अपने समीप आने की जरा-सी छूट दे देती है, तो पुरुष यह मान बैठता है कि नारी उसकी चेरी बन गयी है और वह उस पर अपना अधिकार जताने लगता है। वह यह भी चाहता है कि नारी पर केवल उसका ही अधिकार रहे, उसका पति हरिमोहन तक उससे व्यक्तिगत सवाल पूछने का साहस कभी नहीं करता था। इतना ही नहीं स्वयं हरिमोहन कई बार उसे लेकर अजेय सिंह के पास जाता है। सम्मानजनक संबोधन के साथ उसके पास छोड़ता है। बावजूद इसके कोई सवाल-जवाब नहीं करता। नीलम अपनी तुलना गुलाब के फूल से करती है। जैसे गुलाब का फूल किसी एक बगीचे की शोभा मात्र नहीं बढ़ाता उसी तरह वह भी तब तक अपनी खुशबू फैलाती रहेगी जब तक उसमें खुशबू रहेगी।

नीलम के जीवन ग्राफ को लेखक ने निरंतर बढ़ते हुए ही दिखाया है। 'नीलमणि' नाम से वह भव्य और बेशकीमती कोठी बनवाती है। गृहप्रवेश रखती है। चार हजार के करीब लोग प्रीति भोज में शामिल होते हैं परन्तु उसी दिन दुर्घटना में एक मजदूर की मौत हो जाती है। विरोध का स्वर उठने पर मनोरंजन द्वारा दबा दिया जाता है। मामला रफा-दफा करने की कीमत पचास हजार तय की जाती है और मरने वाले की बीबी और चार बच्चे छोड़ दिए जाते हैं। नारकीय जीवन जीने के लिए। पुलिस और दलालों का पूरा चरित्र उभर कर सामने आता है चाहे वह मनोरंजन हो, चाहे अरविन्द। इन सभी घटनाओं और दुर्घटनाओं के बावजूद नीलम की बहन का भव्य विवाह होता है, जिसमें नगर के प्रायः सभी विभागों के उच्चाधिकारी, व्यापारी, प्रशासक, समाज सेवी, राजनैतिक तथा पत्रकारों के अतिरिक्त मुख्यमंत्री और वित्तमंत्री भी शामिल थे। इस विवाह की भव्यता

और खर्च की मात्र चर्चा नहीं हुई अपितु इसकी आँच दिल्ली तक पहुँच गयी और वहाँ के एक राष्ट्रीय दैनिक अखबार ने हरिमोहन तथा नीलम का कच्चा चिटठा छाप दिया। मंत्री तक इसकी चपेट में आ जाते हैं। इसका तोड़ जो निकाला जाता है, उससे उपन्यास के पात्र तो आश्चर्य चकित होते ही हैं, पाठक भी सकते में आ सकते हैं। नीलम के घर छापा पड़ता है। अखबार में खबर छपती है। लोगों को लगता है कि अब उन्हें कोई नहीं बचा सकता। परन्तु नीलम एक ऐसा विज्ञापन उसी अखबार में छपवाती है कि यह सारी संपत्ति उसके पूर्वजों की है---'मेरी परनानी जदनबाई बनारस की मशहूर गायिका थीं। उनकी बेटी जोहराबाई हुई, जो मेरी नानी थीं। जोहराबाई अपने जमाने की मशहूर नर्तकी थीं...माँ बिजलीबाई..बेहद खूबसूरत कोयल जैसी मीठी आवाज... पैरों में बिजली की थिरकनें..पिता नैनागढ़ के राजा..परन्तु अलग होकर माँ ने फिल्मों में काम किया और पार्श्व गायन भी किया..स्वयं अभिनेत्री..मेरे पास जो धन-दौलत और जायदाद है, वह मेरे पास अचानक नहीं आ गयी है। मैं अपनी परनानी, नानी, माँ और अपने स्वर्गीय पिता राजा ठाकुर विक्रम सिंह की एकमात्र वारिस हूँ ...।'

छापे वाली घटना और उसके स्पष्टीकरण के बाद नीलम का जीवन समाज और राजनीति के लिए समर्पित हो जाता है। काले धन को जायज करार कर देने के बाद वह बाढ़ पीड़ितों के सहायतार्थ नृत्य करती है। माननीय मुख्यमंत्री और वित्तमंत्री की उपस्थिति में एक लाख का चेक देकर राजनीति में अपना प्रवेश निश्चित कर लेती है। नीलम को लोकसभा के लिए मात्र इंका का टिकट ही नहीं मिलता अपितु भारतीय जनता पार्टी से पंद्रह वर्षों से लगातार सांसद रहे डॉ. मनोहर कुमार को टक्कर देती है, वह भी बाप-बेटे में दूरियाँ लाकर। नीलम के प्रचार और स्वागत का भार किसी एक के कंधे पर नहीं रहता। सदर बाजार में एक द्वार दारूवाला बनवाता है, दूसरा कपड़े वाला, एक द्वार तेल वाले ने बनवाया तो दूसरा अनाज वालों ने। एक द्वार सिनेमा वालों ने तो दूसरा सब्जी और फल वालों ने। एक द्वार सोना-चांदी के व्यापारियों ने बनवाया तो दूसरा वाणिज्य कर विभाग वालों ने बनवाया। इस तरह पूरा बाजार जो उसके विरोध में था, वह राजनीति में आते ही उसकी गिरफ्त में आ जाता है।

उपन्यास पढ़ने के बाद मन में इस तरह के सवाल बार-बार उभरते हैं कि क्या यही स्त्री का चरित्र है? क्या अपनी बुद्धि और विवेक के बल पर वह कुछ नहीं कर सकती? क्या उसके जीवन की सफलता का कारण मात्र उसका शरीर ही है? या उसके चरित्र को सामन्ती मानसिकता के पोषक इसी तरह बनाना चाहते थे/हैं? उपन्यास रचते समय रचनाकार ने स्त्री की कोमल भावनाओं को निरंतर दरकिनार किया है। हाँ, एक स्थान पर उसके मातृत्व को और उसकी स्त्री-सुलभ भावनाओं को उकेरा है, जहाँ अरविन्द द्वारा मातृत्व का प्रश्न उठाने पर वह उसे बताती है कि उसके माँ न बन पाने का कारण वह नहीं है बल्कि उसका पति है और किसी दूसरे के बच्चे की माँ बनना उसे स्वीकार्य

नहीं— 'नीलम क्या है, तुम कभी भी नहीं समझ पाओगे ..अरे नारियों को जब विधाता ही नहीं समझ सका तो तुम किस खेत की मूली हो...मैं जानती हूँ कि लोग मुझे कुतिया कहते भी हैं...लोग मुझे बाँझ भी कहते हैं..मैं ये लांछन तो सह सकती हूँ..सहती आ रही हूँ...सहती भी रहूँगी..लेकिन कोई हरिमोहन को नपुंसक कहे...लोग मेरी होने वाली सन्तान को हरामी कहें..मैं यह कभी भी बर्दाश्त नहीं कर पाऊँगी...।' एक तरफ नीलम का यह कथन और दूसरी तरफ उसका यह कहना- 'नारी का मन कोई रेलवे प्लेटफार्म नहीं होता कि प्लेटफार्म का टिकट लिया और उसमें पहुँच गए। वहाँ पहुँचना तो उसी के लिए सम्भव हो पाता है, जो नारी-मन के अनेक तलों को पार कर पाने की सामर्थ्य अपने भीतर रखता हो। वहाँ तो बिरले ही पहुँच पाते हैं।' दोनों उक्तियाँ उसके चरित्र के अलग-अलग रूप सामने लाती हैं और यह समझना मुश्किल हो जाता है कि यह मनोविकार का लक्षण है, स्त्री के चरित्र का उलझाव है या स्त्री के माध्यम से सुख भोगने और अपना हित साधने की सामन्ती साजिश।

स्त्री-मन, उसके जीवन और राजनीति के चरित्र विस्तार के साथ उपन्यास में भाषा के प्रश्न को भी उठाया गया है। हिन्दी और अंग्रेजी के संघर्ष के साथ ही प्रकाशकों पर भी व्यंग्य किया गया है। दोनों ही समस्याएँ दशकों से चली आ रही हैं। गोस्वामी जी ने प्रस्तुत उपन्यास में अपने समय की मूल्यहीनता को रूपायित करने का प्रयास किया है। भारतीय इतिहास में यह वह समय था, जब राजनीति में सारी नैतिक वर्जनाएँ टूट रही थीं। अवसरवादिता बढ़ती जा रही थी। व्यक्ति-पूजा अपने चरम पर थी। देश लोगों के लिए कुर्सी से अधिक कुछ नहीं था। ऐसे में यह निष्कर्ष निकालना बड़ा मुश्किल था कि राजनीतिक पतन के कारण लोगों में मूल्यहीनता बढ़ी या लोगों की सोच ने देश को इस कगार पर ला खड़ा किया था। मैडम अर्थात् इंदिरा गांधी की चर्चा उपन्यास में कई बार की गयी है। इतना ही नहीं कथा नायिका की तुलना भी कई बार मैडम से की गई है। किस तरह के लोग समकाल की राजनीति में कारगर थे, मनोरंजन के चरित्र से स्पष्ट किया गया है। उस समय देश अनेक समस्याओं से गुजर रहा था। क्षेत्रीय, प्रादेशिक और राष्ट्रीय समस्याएँ देश को छलनी कर रही थीं। कई ऐसे सच थे, जो देश को खोखला कर रहे थे। रचनाकार ने उनमें से एक सच को लेकर कथा रची है। संभवतः यही कारण हो कि उपन्यास का नाम 'एक टुकड़ा सच' रखा गया हो।

जहाँ तक उपन्यास की भाषा का प्रश्न है तो सामान्यतः पात्रानुकूल एवं विषयानुकूल है। सच बयाँ करते-करते और स्त्री-चरित्र को उघाड़ते हुए भाषा कहीं-कहीं अक्षील हो गयी है। परन्तु संदर्भ की माँग के आधार पर उसे नकारा नहीं जा सकता। उपन्यास पढ़ते समय कई बार ऐसा लगा कि कबीर और तुलसी की उक्तियों के उदाहारण से बचा जा सकता था। उनका विशाल जीवन-दर्शन इस सन्दर्भ में सिमट-सा गया है। संवाद-शैली में उपन्यास अपने कथ्य को बखूबी स्पष्ट करता है। उपन्यास के विशाल वितान में रचनाकार

ने लोकतंत्र को खोखला करने वाली कुप्रवृत्तियों को व्यापक सन्दर्भों में समेट कर समकाल को चित्रित किया है। हाँ, कसाव की दृष्टि से उपन्यास कमजोर दिखाई देता है।

एसोसिएट प्रोफेसर,
श्रीमती एम.एम.पी.शाह वूमेंस कॉलेज ऑफ
आर्ट्स एंड कॉमर्स, माटुंगा, मुंबई
■ ■ ■

मेरे मरने के बाद : एक हिन्दी साहित्यकार के त्रासदीपूर्ण जीवन के परिप्रेक्ष्य में...

प्रा. प्रदीप जटाल

‘मेरे मरने के बाद’ 1985 में श्रवणकुमार गोस्वामी द्वारा लिखित उपन्यास है। यह उपन्यास इक्कीस अध्यायों में विभाजित है। इसमें हिन्दी के एक सुप्रसिद्ध साहित्यकार कृष्णकांत के त्रासदीपूर्ण जीवन को आत्मकथात्मक शैली में प्रस्तुत किया गया है। उपन्यास में कृष्णकांत के मरने के बाद घटित पारिवारिक, साहित्यिक तथा राजनीतिक घटनाओं का उनके मरने के दो वर्ष बाद उन्हीं की आत्मा द्वारा मनोहर नामक युवा साहित्यकार के माध्यम से किए गए वर्णन का लेखा-जोखा है। लेखक का कृष्णकांत की आत्मा द्वारा मरणोपरान्त हकीकत बयान करना यह एक अनोखा प्रयोग है। शायद लेखक के अनुसार जिसे हम प्रत्यक्ष देख और समझ नहीं पाते, मरने के बाद उसे आत्मा के माध्यम से बखूबी देख सकते हैं, इसलिए कि आत्मा के लिए कोई बंधन नहीं होता।

हिंदी भाषा के अधिकांश लेखकों की दुखद नियति रही है। बहुत से हिंदी के साहित्यकारों को अपमानित और राजनीतिक उत्पीड़न का शिकार होना पड़ा है। लेखक निरंतर दोहरा कार्य करता है- एक तरफ वह गरीबी और अभावों के बीच संघर्ष जारी रखता है तो दूसरी ओर सामाजिक सुधार हेतु जमीनी सच्चाई व्यक्त करके अन्याय और असमानताओं के खिलाफ सामाजिक जागरूकता पैदा करता है। कृष्णकांत जी उन्हीं में से एक हैं, जिन्होंने सम्पूर्ण जीवन भर साहित्य सृजन किया। किसी प्रकार का कोई समझौता नहीं किया। परिणामतः एक आदर्शवादी एवं ख्यातिप्राप्त साहित्यकार होने के बावजूद गरीबी, संघर्ष और अभावों से ग्रस्त जीवन यापन करना पड़ा। कृष्णकांत का कथन है, ‘जब तक मैं जीवित रहा, मैं जिंदगी में संघर्ष ही करता रह गया। शायद संघर्ष ही मेरा जीवन था। मुझे खुशी है कि संघर्ष में ही मैं खेत भी आ गया। लेकिन इस संघर्ष से मुझे जो हासिल हुआ... वह तुमसे छिपा नहीं है।’¹ इतना ही नहीं अवमानना एवं राजनीतिक उत्पीड़न का भी शिकार होना पड़ा।

प्रस्तुत उपन्यास के नायक कृष्णकांत साहित्यकारों के प्रतिनिधि हैं। उनका पूरा जीवन गरीबी, अभावों और शिकायतों की कहानी के अलावा कुछ नहीं है। उन्होंने अपना पूरा

जीवन साहित्यिक रचनात्मकता की सेवाओं के लिए समर्पित कर दिया। कृष्णकांत जी का कथन है, 'मैं खुश हूँ कि मैं जीवन भर लेखक बना रह सका। मैं चाहता तो अपने लेखक को छोड़कर मैं कुछ भी बन सकता था, पर मैंने ऐसा नहीं किया। संभवतः मैं ऐसा कर भी नहीं सकता था। साठ वर्ष की उम्र तक मैं लिखता गया। मैंने साहित्य की सेवा की-हिन्दी की सेवा की। इस साहित्य सेवा के एवज में मुझे दुःख, दर्द, अपमान, उपेक्षा, दरिद्रता और कटु आलोचनाओं के पुरस्कार मिले। इन सबके बावजूद लेखन को एक महान कार्य मानकर मैं लिखता रहा और समाज को जो दे सकता था... देता रहा।'² जो लोग उनके साथ जुड़े हुए थे या अन्य किसी तरह से उनके साथ थे, उन्होंने भी बड़ी होशियारी से उन्हें अनदेखा किया।

कृष्णकांत चोटी के साहित्यकार थे। समग्र जीवन साहित्य को समर्पित करते रहे। साहित्य सृजन की इस प्रक्रिया में उन्हें अपने परिवार की तरफ कभी देखने की फुर्सत ही नहीं हुई कि वे किस हाल हाल में जी रहे हैं। बच्चे कब बड़े हुए, लड़कियाँ जवान कब हुई, इसका अनुमान तो मरने के बाद ही हुआ। स्वयं मनोहर से कहते हैं- 'तुम्हें तो पता ही है कि मैं अपने पीछे परिवार में पाँच सदस्य छोड़कर मरा। मेरे दो बेटे हैं, अमर और अरुण। मैंने इन बेटों की परवाह कभी नहीं की। पर, मेरी दो जवान बेटियाँ हैं, संगीता और विनीता, जिनकी चिंता मुझे बराबर सताती थी। एक थी, मेरी पत्नी कमला जिसे जीवन में कभी भी कोई सुख नसीब नहीं हो सका। उसके ऊपर दो-दो जवान बेटियों की शादी का भार था। वह कैसे इन लड़कियों का विवाह कर पाएगी।'³ व्यक्ति संसार से किसी तरह मुँह मोड़ सकता है या लड़ भी सकता है पर परिवार से न मुँह मोड़ सकता न भाग सकता है। परिवार के दायित्व की चिंता उसे बराबर सताती रहती है। कृष्णकांत के मरने के बाद लोग इस फिराक में थे कि उनकी विधवा पत्नी और बेटे-बेटियाँ बेघर हो जाएँ। इसी छटपटाहट में उनकी आत्मा दो वर्ष तक भटकती रही।

समय के साथ-साथ मनुष्य में भी परिवर्तन होता रहा है। वह आदमी से ज्यादा खतरनाक जीव बनता गया। कृष्णकांत ने मृत्यु के पश्चात अपने परिवार के साथ हुए अन्याय, अत्याचार और लोगों की बुरी नजरों को जो देखा, उसे उन्होंने जीते जी अपने साठ वर्ष में पहले कभी नहीं देखा था। मरने के बाद लोग सोचते हैं कि जो मर गया, वह अब लौटकर तो आ सकता नहीं। वह लौटकर नहीं आ सकता, इसलिए उसके परिवार वालों को जितना भी सताया जाना संभव है, सताओ। मरने वाले के नाम को जहाँ तक भुनाना संभव है, भुनाओ। मनुष्य के व्यवहार पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं, 'इन दो सालों में मैंने जाना कि आदमी से ज्यादा खतरनाक जीव संसार में दूसरा कोई नहीं। तुमने किसी कुत्ते को कुत्ते का माँस खाते हुए कभी नहीं देखा होगा, लेकिन यह आदमी, आदमी का भी माँस खाने में तनिक भी संकोच नहीं करता। मनुष्य से बढ़कर हिंसक इस दुनिया में दूसरा कोई प्राणी नहीं। दूसरे जीव तो जब किसी को मारते हैं, तो वहाँ खून बहता दिखायी पड़ता है। मगर आदमी तो आदमी को ऐसे मारता है कि खून समीचीन

बहने की बात तो दूर, मार के निशान भी दिखायी नहीं पड़ते और काम तमाम हो जाता है।^४ यहाँ मनुष्य की पाशवीय प्रवृत्ति की ओर संकेत किया गया है। वह जानवर से भी अधिक हिंस्र और असंवेदनशील हो गया है। अपने स्वार्थ के लिए वह किसी भी सीमा को लाँघ सकता है।

किसी साहित्यकार के जीवन में उसके जीते जी जो इज्जत और शोहरत मिलनी चाहिए उसे वह कभी नहीं मिलती। प्रेमचंद 'कफन' कहानी में कहते हैं, 'जिसे जीते जी तन ढकने के लिए कपड़ा न मिला हो उसे मरने के बाद कफन चाहिए।' इस प्रकार की मानसिकता से ग्रस्त समाज कृष्णकांत जी के साथ भी यही करता है। जो कृष्णकांत अपने जीवन काल में किसी को एक आँख न भाते थे, वह मरने के बाद एकाएक अमूल्य एवं आदरणीय हो गए। वे स्वयं एक स्थान पर कहते हैं, 'मरने के बाद साहित्य जगत में कृष्णकांत एकाएक अमूल्य बन गया। अब लोगों को उसके लेखन में खूबियाँ और खूबियाँ ही नजर आ रही हैं। जो लोग कल तक मेरे निंदक और विरोधी थे, वे आज मेरे समर्थन में नयी-नयी पेंतरेबाजी करने लगे हैं। अब मेरी रचनाओं का पुनर्मूल्यांकन किया जा रहा है। लोग मुझ पर शोध कर रहे हैं। कल का नकारा कृष्णकांत मरने के बाद अचानक महान बन गया है और उसे साहित्य और राजनीति की मंडियों में ऊँची कीमतों पर बेचने की तैयारी में लग गये हैं।'^५ आज हर तरफ कुछ इसी तरह हो रहा है। मनुष्य के जीवन एवं उसके कार्य की कीमत उसकी मृत्यु के बाद ही समझ में आती है। आज भी देश में कई महान आत्माओं को मरणोपरांत पुरस्कारों से सम्मानित किया जाता है, उनके नाम से स्कूल-कालेज खोले जाते हैं, जब कि जीवन भर वे अभाव और संघर्ष में झुलसते रहे, बड़ी होशियारी से उन्हें दरकिनार एवं दुर्लक्षित किया गया। यदि मरने के बाद ही मनुष्य को उसका इच्छित सम्मान मिलना है तो उसका जीवनभर का त्याग एवं तपश्चर्या बेकार है। इस प्रकार की मानसिकता पर विचार करने की आवश्यकता है।

एक नामचीन साहित्यकार के जीवन की त्रासदी और क्या हो सकती है कि उसकी शव-यात्रा में चलने वाले लोग उसकी अर्थी को देखकर एक-दूसरे से पूछें-किसकी अर्थी है? यह विडम्बना है उन तमाम महान आत्माओं की जिन्होंने इस देश के लिए अपना सर्वस्व त्याग दिया, यहाँ तक कि अपने प्राण भी। आजीवन साहित्य सेवी कृष्णकांत की मृत्यु पर भी यही हुआ। जैसा कि, 'शव-यात्रा श्मशान की ओर बढ़ती गई। रास्ते में चलने वाले लोग रुककर अर्थी की ओर देखते और एक-दूसरे से पूछते-किसकी अर्थी है?' किसी ने कहा-कोई मुंशी लगता है। किसी ने कहा-कोई मास्टर लगता है। किसी ने कहा- होगा कोई क्लर्क-फलर्क। किसी ने कहा-कोई मामूली बाबू लगता है।' किसी ने कहा-कोई नोकरीपेशा आदमी मालूम पड़ता है। एक ने तो झुंझलाकर कहा-अरे, होगा कोई दुग्गी-तिग्गी। यह सब सुनकर मेरी आत्मा पर क्या गुजरी, मैं कैसे बताऊँ? जिसके मन में जो आया, वह बक गया, पर किसी के मुँह से यह सुनाई नहीं पड़ा-यह एक साहित्यकार की अर्थी है। शब्द जिह्वा से सुनने के लिए मेरी आत्मा छटपटाती रह समीचीन

गयी, लेकिन ये शब्द किसी भी कोने से सुनने को नहीं मिल सका।^६ इससे यह साबित हो जाता है कि हमारे समाज की संवेदनाएँ कितनी खोखली हो गई हैं। यहाँ तक कि ऐसे महान साहित्यकार की शव-यात्रा में सम्मिलित होने के लिए लोगों के पास समय नहीं है। और जो सम्मिलित हुए उनमें से अधिकतर इसलिए भी आए थे कि अगले दिन अखबार में अर्थी के साथ उनकी भी तस्वीर छप जायेगी। कृष्णकांत की आत्मा अपनी शव-यात्रा में सम्मिलित लोगों से बड़ी आहत हुई। इस शहर में उनके परिचितों, मित्रों, शुभचिंतकों तथा प्रशंसकों की संख्या सैकड़ों में नहीं, हजारों रही हैं, परंतु यह देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ कि उनकी शवयात्रा में केवल तीस-पैंतीस लोग सम्मिलित हुए थे। स्थानीय विद्यालयों तथा महाविद्यालयों से केवल तीन-चार ही अध्यापक थे। नगर के साहित्यकार और कवि भी दो-तीन ही थे। पत्रकारों की संख्या भी दो-तीन ही रही होगी। अंग्रेजी पत्रकार तो आए ही नहीं। इतना अनादर तो एक मजदूर की मौत पर भी नहीं होता है। लेखक कृष्णकांत के माध्यम से कहते हैं, 'जब एक मजदूर की मौत होती है, तो उसके जनाजे में सैकड़ों और हजारों की संख्या में अन्य मजदूर शामिल होते हैं। लेकिन देश का एक प्रसिद्ध साहित्यकार मर गया, उसकी शव-यात्रा में सम्मिलित होने के लिए सौ व्यक्ति भी जमा नहीं हो सके। लगा कि मेरी साहित्य-सेवा बेकार गयी। काश! मैं एक मजदूर ही होता। यदि ऐसा हुआ होता तो मेरे जनाजे में कदाचित सैकड़ों लोग तो जरूर ही शामिल होते।'^७ एक साहित्यकार की आत्मा की पीड़ा और हुई अवमानना की कल्पना इससे अधिक नहीं की जा सकती।

प्रस्तुत उपन्यास के माध्यम से लेखक ने साहित्यकार, अध्यापक तथा प्रकाशकों की प्रवृत्ति पर विस्तार से चिंतन किया है। अपने समकालीन साहित्यकारों की कथनी एवं करनी पर कृष्णकांत के माध्यम से उसने बड़ी बेबाकी से प्रहार किए हैं। कृष्णकांत जी के शब्दों में एक निमार्णाधीन साहित्यकार, जिनका नाम 'कमल' है, कमल में प्रतिभा का नितांत अभाव है फिर भी वह महान लेखक बनने का ठस्सा देता है। उसे कृष्णकांत के प्रति काफी द्वेष और ईर्ष्या थी। एक दिन कमल अपनी एक कहानी कृष्णकांत जी के पास दिखाने के लिए जाता है, पर उनके द्वारा कहने पर कि लिखने से पहले यह जरूरी है कि आप शुद्ध-शुद्ध लिखना जानें, भड़कर हाथ से कहानी छीनकर चला जाता है। तब से वह केवल उनकी निंदा करता हुआ अनाप-शनाप ही बोलता रहा। चन्द्रभूषण नामक प्रेस के मालिक के कहने पर कि, 'कृष्णकांत की मृत्यु से इस नगर का बड़ा नुकसान हुआ है। उनके निधन से अब इस नगर का नाम भी देश के मानचित्र से मिट जाएगा क्योंकि अब यहाँ कोई लेखक नहीं जिसे अखिल भारतीय ख्याति प्राप्त हो।'^८ इस पर कमल के शरीर में आग लग गई। उसने तमककर कहा, 'क्या बकवास कर रहे हैं, आप? क्या कृष्णकांतजी इतने महान थे कि उनके मरने से यह शहर ही खत्म हो जाएगा। इस शहर में एक-से-एक लिखने वाले हैं। किसी के मरने से कुछ नहीं होता है। एक मरता है तो अनेक माई के लाल पैदा हो जाते हैं।'^९ वह कहता फिरता था, 'कृष्णकांतजी एक बरगद समीचीन

हैं। वह नहीं चाहते कि कोई नया लेखक उनके मुकाबले में उभरे।^{१०}

इसी तरह विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ. सोमनाथ भी इसी कड़ी में शामिल हैं। कृष्णकांत जी की मृत्यु पर आकाशवाणी से स्थानीय साहित्यकारों द्वारा श्रद्धांजलि देने का कार्यक्रम तय हुआ। उसमें केवल तीन साहित्यकारों को सम्मिलित किया जाना था, उनमें से एक नाम डॉ. सोमनाथ जी का था। साथ ही वे प्रभाकर के गुरु भी थे। मुख्य कार्यक्रम अधिकारी की अनुपस्थिति में सहायक कार्यक्रम अधिकारी प्रभाकर ने कृष्णकांत जी पर बात करने के लिए डॉ. सोमनाथ को फोन लगाया। प्रभाकर नहीं जानते थे कि डॉ. सोमनाथ कृष्णकांत जी से बेहद ईर्ष्या एवं नफरत करते थे। यहाँ तक कि वे कृष्णकांत जी को लेखक ही नहीं मानते थे। प्रभाकर के कहने पर कि आज रात्रि को आठ बजे कृष्णकांतजी के निधन पर एक श्रद्धांजलि गोष्ठी प्रसारित करना चाहता हूँ। इसमें केवल तीन ही व्यक्ति हैं। पहला नाम आपका ही है। सर आप साहित्य-मर्मज्ञ हैं। आज साहित्यकार कृष्णकांत को श्रद्धांजलि देनी है, उस कृष्णकांत को जो साहित्य-गगन में सूरज की तरह चमक रहे थे। सारा हिन्दी संसार उनकी प्रतिष्ठा में है। इस पर जोर से ठहाका मारते हुए वे कृष्णकांत का उपहास करते हुए कहते हैं, 'देखो प्रभाकर, मैं ठहरा मौलिक चिंतक। मैं वही नहीं सोचता जो साधारण लोग सोचते हैं। मेरे पास अपना मस्तिष्क है। मैं उसका उपयोग करना भी जानता हूँ। यह भी जानता हूँ कि साहित्य क्या है। मेरी दृष्टि में कृष्णकांत का कोई महत्त्व नहीं। यदि वह महान लेखक माना जा सकता है, तो मुझे यह भी कहना चाहिए कि गुलशन नन्दा और प्रेम बाजपेयी हिन्दी के उपन्यास सम्राट हैं। जो कृष्णकांत मेरी नजर में लेखक है ही नहीं, उसकी शव-यात्रा में शामिल होना और तुम्हारे आज के कार्यक्रम में उनकी रचनाओं की झूठी प्रशंसा करते हुए उसे श्रद्धांजलि अर्पित करना दोनों एक जैसे घटिया काम लगते हैं—मुझे। मैं तुम्हारे इस कार्यक्रम में भाग नहीं ले सकता। ढूँढो, तुम्हें अनेक विद्वान मिल जाएँगे इस नगर में! ऐसे घटिया कामों के लिए डॉ. सोमनाथ न तो कभी उपलब्ध था, न कभी उपलब्ध रहेगा।'^{११}

डॉ. सोमनाथ के इस तरह के व्यवहार का असल कारण था कि विश्वविद्यालय के सिंडिकेट के कुछ सदस्यों ने यह प्रस्ताव रखा कि कृष्णकांतजी एक सुप्रसिद्ध साहित्यकार रहे हैं, अतः उन्हें विश्वविद्यालय की ओर से डी. लिट. की मानद उपाधि प्रदान की जाए। कुलपति महोदय ने यह प्रस्ताव डॉ. सोमनाथ के पास अग्रसारित कर दिया था- उनकी अनुशंसा के लिए। डॉ. सोमनाथ ने प्रस्ताव के विरोध में बहुत कुछ लिखा। परिणामतः प्रस्ताव की भ्रूणहत्या हुई। चूँकि पूरे विश्वविद्यालय में डॉ. सोमनाथ अकेले डी. लिट थे। वे नहीं चाहते थे कि एक जंगल में दो शेर हों। परिणामतः उन्होंने इस प्रस्ताव का जमकर विरोध किया। इस घटना के बाद डॉ. सोमनाथ ने डी० लिट की उपाधि को इतना सस्ता बना दिया कि जो भी उनके निर्देशन में शोध कार्य करता उसे डी० लिट की ही उपाधि प्राप्त होती। इस प्रकार विश्वविद्यालयों में भी राजनीति का धिनौना प्रकार चलता है। साथ ही इन्हीं की निगरानी में होता है। डी. लिट जैसी उच्च शिक्षा का सस्ता बाजार। जिसका समीचीन

परदाफाश करने का प्रयास लेखक ने किया है।

उपन्यास में लेखक ने विश्वविद्यालयीन हिन्दी प्राध्यापक, कवि, कहानीकार संपादक तथा प्रकाशकों पर कृष्णकांत की आत्मा के माध्यम से प्रकाश डालने की कोशिश की है। लेखक ने बड़े नाटकीय एवं मनोरंजक ढंग से वहाँ पहुँचने की कोशिश की है जहाँ जीवित व्यक्ति पहुँच नहीं सकता। कहा जाता है न कि, 'जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि'। इस उक्ति की तरह लेखक की इच्छा के अनुसार कृष्णकांत की आत्मा जहाँ-तहाँ पहुँच जाती है और ऐसी खबरें प्राप्त करती हैं जो जीवित रहते कतई संभव नहीं थीं। एक दिन कृष्णकान्त की भटकती आत्मा डॉ. उदयप्रकाश के घर के पास से गुजर रही थी। लगा कि भीतर कुछ उन्हीं के बारे में बातें चल रही हैं, अतः उनकी आत्मा वहीं ठहर गई। उसने वहाँ जो देखा और सुना उसका खुलासा इस प्रकार है- डॉ. उदयप्रकाश विश्वविद्यालय के हिन्दी प्राध्यापक हैं। उनके ड्राईगरूम में चार और व्यक्ति बैठे हैं। उदयप्रकाश के सामने शैलेश्वर बैठा है, जो अपने आपको कहानीकार मानता है। उसी की बगल में टिगना-सा अधेड़ व्यक्ति जो बैठा है, उसका नाम किशोर मुरादाबादी है। वह कहानियाँ लिखता है। बाईं ओर सोफे पर कार्टूननुमा आदमी पतझड़ बनारसी है। ये हास्य कवि कहलाते हैं। पतझड़ बनारसी के ठीक सामने जगदीश विद्रोही बैठे हैं। ये कवि हैं और उपनाम 'विद्रोही' लगाते हैं। ये पाँचों मिलकर कृष्णकांत की बुराई करते हैं। पतझड़ बनारसी ने बातों का सिलसिला शुरू करते हुए कहा- 'कोई कुछ भी कहे, मैं तो यही मानता हूँ कि कृष्णकांत एक वटवृक्ष था। जिस प्रकार वटवृक्ष के नीचे कुछ भी पनप नहीं पाता, उसी प्रकार उसके रहते यहाँ के किसी साहित्यकार की प्रगति नहीं हो सकी। अब वह नहीं है, अब देखना कि शहर के लेखकों और कवियों की मांग कैसी बढ़ती है।'^{१२}

मुरादाबादी ने सोफे पर थाप लगाते हुए जरा जोर से कहा- 'तुम्हारी बात सौ फीसदी सही है। मेरे साथ कई बार ऐसा हुआ है कि किसी पत्रिका के लिए मेरी और कृष्णकांत की कहानी गई। मेरी कहानी बीस पड़ी, फिर भी संपादक ने छपी कृष्णकांत की ही कहानी। इसे क्या कहा जाय? अब कृष्णकांत मर गया गया, देखना किस तेजी से मेरी कहानियाँ छपती हैं।'^{१३} इतने में शैलेश्वर पान चबाता हुआ बोल उठा 'कृष्णकांत में एक बहुत बड़ी बुराई थी। वह बड़ा ईष्यारु आदमी था। चिनगारी प्रकाशन से प्रकाशित उपन्यास पर कृष्णकांत ने कहा-शैलेश्वर, बाजारू लेखक मत बनो। उसके मित्र ने बताया कि कृष्णकांत तुम्हारी सफलता से जलता है।'^{१४} इस पर डॉ. उदयप्रकाश ने शैलेश्वर की बात पुष्टि करते हुए कहा- हाँ, यह सच है कि कृष्णकांत के उपन्यासों की बहुत कम प्रतियाँ छपती हैं। किशोर मुरादाबादी ने एक बुजुर्ग की तरह यह बात रखी- 'अरे भाई सीधी-सी बात है, जो जैसा बोयेगा वह वैसा ही काटेगा। कृष्णकांत ने सबको अपना दुश्मन ही बना लिया था। इस शहर में कौन है ऐसा साहित्यकार जिससे उसकी कभी पटी हो? डॉ. सोमनाथ को वह देख नहीं सकता था। डॉ. उदयप्रकाश के नाम से उसे जूड़ी चढ़ने लगती थी। शैलेश्वर को तो अपना प्रतिद्वंद्वी मानता था। विद्रोहीजी को वह समीचीन

टुक्कड़ कहता था। पतझड़ बनारसी तो उसकी नजर में चोर ही था। मौलिक लेखक तो बस कृष्णकांत ही था, बाकी तो हम सब लोग घसियारे हैं-घसियारे।^{१५} यहाँ पर देखा जा सकता है कि किस प्रकार दूसरे के रहस्यों को उद्घाटित करते हुए ये लेखक अपने आप को उधारते जा रहे हैं।

कृष्णकांत शासकीय पत्रिका 'नीति' के संस्थापक संपादक रहे हैं, जिससे उन्हें देशभर में ख्याति प्राप्त हुई। अब उनके मरने के बाद 'नीति' का संपादकत्व प्राप्त करने के लिए होड़ सी मच गई। डॉ. सोमनाथ के माध्यम से शिक्षा मंत्री तक पहुँचने के लिए हर कोई कृष्णकांत की बुराई कर रहा था। इसलिए डॉ. सोमनाथ की नजर में बड़ा दिखना आवश्यक था। डॉ. उदयप्रकाश के शब्दों में-'डॉक्टर (सोमनाथ) साहब को मनाने के लिए यह जरूरी है कि जब हम लोग उनसे मिलें तो उनके सामने कृष्णकांत की खूब बुराईयाँ करें। मसलन हमें उनके सामने कहना चाहिए-कृष्णकांत ने इस शहर पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया था जिसे तोड़ना जरूरी है....कृष्णकांत के चलते ही अब तक इस शहर में कोई साहित्यिक संस्था नहीं बन सकी...वह तो आपका दुश्मन था, दुश्मन...आपके नाम से वह भड़क उठता था ...चलो, अच्छा हुआ जो इस गंदगी को भगवान ने खुद उठा लिया...कहाँ डॉक्टर साहब और कहाँ कृष्णकांत...दोनों में तुलना ही नहीं हो सकती।'^{१६} यहाँ पर एक हिन्दी के ही प्राध्यापक अपने स्वार्थ हेतु चापलूसी करते हुए दूसरों की बुराई करते नजर आते हैं।

लेखक-प्रकाशक संबंधों को स्पष्ट करने की कोशिश भी की गई है। लोगों के बीच एक धारणा है कि प्रकाशक लेखकों का शोषण करते हैं। और यह सच भी है। कृष्णकांत जी के प्रकाशक मित्र विद्यासागर भी इसके अपवाद नहीं हैं। कृष्णकांत जी का वक्तव्य है,-'मनोहर, तुमने प्रकाशकों और लेखकों के सम्बन्धों के बारे में बहुत कुछ सुना होगा। लोगों के बीच यह धारणा फैल चुकी है कि प्रकाशक लेखकों का शोषण करते हैं और वे लेखकों को पूरी रॉयल्टी कभी नहीं देते हैं। मेरा प्रकाशक भी अपवाद नहीं है।'^{१७} पिछले पाँच वर्षों से कृष्णकांत विद्यासागर प्रकाशन से अपनी किताबें प्रकाशित करते थे उसकी उन्हें प्रति वर्ष सात हजार की रॉयल्टी मिलती थी। बेटियाँ जवान होने से कृष्णकांत ने अपने परिवार से छिपाकर विद्यासागर पर विश्वास जताते हुए रॉयल्टी से केवल एक हजार रुपए लिए और बाकी के छह हजार बतौर कर्ज उसके पास ही रखे। पाँच साल के लगभग 30 हजार रुपये थे। कृष्णकांत की मृत्यु होने पर उसने अमर के पास केवल दो हजार रुपये देकर बाकी के रुपए हड़प लिए। इस तरह प्रकाशक का असली चेहरा दिखाने का प्रयास किया है।

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना लिखित 'बकरी' नाटक में एक बकरी को जिस प्रकार बापूजी की बकरी बनाकर उसके नाम से जनता को लूटने की योजना बनाई जाती है और कई समितियाँ, सेवा मण्डल बनाए जाते हैं, ठीक उसी प्रकार कृष्णकांत की मृत्यु पर मौका-परस्त एवं स्वार्थी लोगों में एक होड़ सी मच जाती है। जो पहले उनका पुरजोर विरोध

करते थे, उन्होंने भी स्वार्थ हेतु अपने हथियार डाल दिए और दौड़ में शामिल हुए। कहीं 'कृष्णकांत स्मारक', तो कहीं 'कृष्णकांत की स्मृति में', तो कहीं 'कृष्णकांत स्मृति ग्रंथ', तो कहीं 'कृष्णकांत विशेषांक', तो कहीं 'कृष्णकांत पुरस्कार'। इस प्रकार स्वार्थलोलुप लोगों द्वारा कृष्णकांत के नाम पर हर कोई अपनी रोटियाँ सेंकने लगा और उन्हें सफलता भी प्राप्त होने लगी। इस संदर्भ में कृष्णकांत का कथन है, 'मनोहर, मैं नहीं जानता था कि मेरा मरना इतना अधिक लाभदायक सिद्ध हो सकता है। जीते-जी तो मैं किसी को कोई लाभ नहीं पहुंचा सका। चलो, मेरे मरने के बाद यदि कुछ लोगों का भला होने जा रहा है, तो होने दो उनका भला। मैंने सुना था कि कुछ लोग ऐसे होते हैं जो लाशों के कफन बेचकर खा जाते हैं, मगर वैसे लोगों से मिलने का मौका मुझे कभी नहीं मिला था। मरने के बाद ही ऐसे लोगों को जानने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है जो कफन के सौदागरों से भी कहीं ज्यादा महान और पूज्य हैं। वाह! आदमी भी क्या चीज है! शायद भगवान भी आदमी को अच्छी तरह नहीं जानते कि इस आदमी नाम के जीव के कैसे-कैसे पुर्जे हैं।' ¹⁴ कृष्णकांत के नाम पर स्मारक बनाने की योजना तो मुरली मनोहर, बजरंग पोद्दार, विधायक गोपाल, आई. ए. एस. जयगोविंद वर्मा, तस्करी करने वाले ज्ञानप्रकाश चोपड़ा तथा डॉक्टर के रूप में कसाई का काम करने वाले डॉ. श्यामजी आदि के द्वारा यह झूठा जाल बिछाया गया था, जिसके पीछे उनका मकसद स्मारक के नाम पर शहर के बीचोबीच की जमीन हड़पना था।

साहित्यकार केवल साहित्यकार होता है। न तो वह किसी जाति का होता है, न किसी धर्म का, न ही किसी साहित्यिक गुट का होता है और न किसी राजनीतिक पार्टी का। वह तो मात्र एक दृष्टा समाज सुधारक होता है। विवेच्य उपन्यास में कृष्णकांत जी के साथ भी कुछ इसी प्रकार होता है। इसमें राजनीति के ठेकेदारों पर भी व्यंग्य कसा गया है। जब-जब कृष्णकांत जी को किसी पुरस्कार या उनकी स्मृति में कुछ पुरस्कारों की घोषणा करने की बात आई, तब-तब समाज के विघातक तत्व उनकी राह का रोड़ा बने हैं। कुछ मंत्रियों ने तो उनपर इन्दिरा विरोधी होने का आरोप भी लगाया। तत्कालीन सूचना मंत्री ने यहाँ तक कहा कि कृष्णकांत ने हमें इन्दिरा विरोधी साहित्य दिया है। और तो और कुछ लोगों ने तो यह भी कहा कि उन्होंने जयप्रकाश के जुलूसों में भाग लिया था। इतना ही नहीं उन्होंने जयप्रकाश की एक सभा की अध्यक्षता भी की थी। साथ ही उन पर जनसंघी होने का आरोप भी लगाया। तत्कालीन कांग्रेस सरकार के नेता संजय गांधी के लिए मानपत्र लिखने के लिए मना करने पर उसके दंड स्वरूप उनकी पेंशन तक से उन्हें वंचित कर दिया गया। यहाँ पर तत्कालीन कांग्रेस नीति पर भी प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। इस प्रकार के नेताओं पर व्यंग्य करते हुए कृष्णकांत कहते हैं, 'मनोहर, उस समय के राजनीतिज्ञ कुछ और किस्म के हुआ करते थे। वे लोग आज के मंत्रियों की तरह चरित्रहीन और टुच्चे नहीं हुआ करते थे। वे साहित्यकारों का सम्मान करना जानते थे। लेकिन, न तो अब वैसे मंत्री ही दिखाई देते हैं और न साहित्यकार समीचीन

ही। आज के साहित्यकार तो मंत्रियों के पीछे-पीछे चलने में ही अपने लिए सम्मान की बात मानते हैं। अब तो हर तरफ उल्टी गंगा बहने लगी है।^{१९} वर्तमान में नेताओं के पीछे-पीछे चलने, उनकी हाँ में हाँ मिलाने और चापलूसी के दिन हैं जिसे हम-आप अब अस्वीकार नहीं कर सकते।

उपन्यास के अंत में इक्कीसवें अध्याय में लेखक कृष्णकांत जी के माध्यम से जीवन के कड़वे सच की ओर पाठक का ध्यान आकर्षित करना चाहता है। कृष्णकांत जीवन में सगे-संबंधियों के बारे में कहते हैं कि जब तक मनुष्य जीवित है तब तक उसका विचार है। जैसे ही वह मर जाता है खून के रिश्ते के लोग भी उसे भुला देते हैं। कृष्णकांत के शब्दों में, 'जब मनुष्य मर जाता है, तब उसके सगे-संबंधी खूब रोते-गाते हैं। मगर, कुछ ही दिनों के बाद लोग उसे भुला देते हैं। किसी को भी यह बात याद नहीं रहती कि उसके परिवार में अमुक नाम का व्यक्ति भी था। देखते-ही देखते मनुष्य गुमनामी के अंधेरे में खो जाता है।'^{२०} फल की अपेक्षा से जीने वाले मौका परस्त लोगों के बारे में भी लेखक इशारा करते हैं। उनके अनुसार कृष्णकान्त जैसे साहित्यकार ने कभी अपने जीवन में फल की अपेक्षा नहीं की। निरंतर कर्मरत रहे। वे फल की अपेक्षा से किए कर्म को व्यर्थ मानते थे। पर अब समय बदल गया है। हर कोई फल पर निर्भर है। कृष्णकांत एक स्थान पर कहते हैं, 'मैं लेखन करता रहा, करता रहा। मैंने फल की चिंता उतनी नहीं की। शायद यही कारण था कि मैं लिख सका। पर, आज मैं यह जरूर कहना चाहूँगा कि मैंने जितना लिखा और जैसा लिखा, उसके अनुपात में मुझे मेरा प्राप्तव्य नहीं मिल सका जबकि मेरे देखते ही देखते राजनीति एवं गुटबाजी की बैसाखी के सहारे छुट भैये कहाँ- से कहाँ पहुँच गए।'^{२१}

हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं के दायित्व पर प्रश्न चिह्न खड़ा करते हुए कहा गया है कि ये पत्रिकाएँ अपने बड़े-से-बड़े साहित्यकारों का निरंतर अनादर करती रही हैं। साहित्यकारों को छोड़कर खेल जगत पर विशेषांक निकाले गए। इतना ही नहीं हत्यारों, बलात्कारियों, तस्करों, कुख्यात डकैतों के चित्र समाचार पत्रों में छापे जाते हैं पर किसी साहित्यकार की मौत पर आपके समाचार पत्रों में जगह नहीं है। कृष्णकांत के शब्दों में, 'मैंने अपने जीवन-काल में और मरने के बाद भी देखा है कि हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएँ अपने बड़े-से-बड़े साहित्यकारों का अनादर करती रही हैं। चलो, मैंने माना कि कृष्णकांत कुछ भी नहीं था। उसके लिए यह भी कह लो कि वह किस खेत की मूली था? पर, हिन्दी के संपादकों से मैं यह जरूर पूछना चाहता हूँ कि क्या निराला, पंत, दिनकर, हजारीप्रसाद द्विवेदी, यशपाल आदि भी छोटे हैं सुनील गावस्कर से? यदि नहीं, तो कहो कि इन साहित्यकारों के मरने पर भी तुमने कितनी पत्र-पत्रिकाओं में इन साहित्यकारों के चित्रों को मुखपृष्ठ पर स्थान दिया? ये जीवन भर हिन्दी और देश के लिए मरते रहे, पर बदले में तुम लोगों ने इन्हें क्या सम्मान दिया? तुमने सुनील गावस्कर पर अनेक विशेषांक प्रकाशित किए। जरा तुम्हीं बताओ गावस्कर की बल्लेबाजी से तुम्हारे देश की संस्कृति समीचीन

कितनी आगे बढ़ी और तुम्हारे हृदय का कितना विस्तार हो गया? तुमने अमिताभ बच्चन के केवल बीमार हो जाने पर विशेषांक के विशेषांक निकाल दिए, पर क्या तुमने निराला के बीमार होने पर कोई ऐसा विशेषांक निकाला था क्या? मैं जानता हूँ कि तुम्हारे पास इसका कोई जवाब नहीं है। तुम मुखपृष्ठों पर हत्यारों, बलात्कारियों, तस्करों, कुख्यात डकैतों के चित्र तो छाप सकते हो, पर अपने साहित्यकारों के लिए तुम्हारे पास कोई जगह नहीं है। मसिजीवियों के द्वारा मसिजीवियों का किया जा रहा यह अपमान तुम्हें बहुत महँगा पड़ेगा.... इस देश को बहुत महँगा पड़ेगा, यह जान लो। नतीजा अब सामने आने भी लगा है।²² एक साहित्यकार जीवन साधना को भट्टी में झोंककर स्वाहा कर देता है। तो दूसरी ओर पत्र-पत्रिकाएँ भी उनके अमूल्य योगदान को नजर अंदाज कर रही हैं। इस प्रकार लेखक ने पत्र-पत्रिकाओं को बेनकाब करने की कोशिश की है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि श्रवणकुमार गोस्वामी द्वारा लिखित 'मेरे मरने के बाद' उपन्यास एक साहित्यकार के जीवन की आप-बीती है। उपन्यास का सबसे प्रभावी और सशक्त चरित्र कृष्णकांत है, जो केंद्रीय चरित्र है और साथ ही साथ एक प्रमुख और अत्यधिक प्रभावशाली चरित्र के रूप में उभरा है। उसे अपने पाठकों से पूरी सहानुभूति और संवेदनाएँ मिलती हैं। कृष्णकांत के आदर्शों को उनके अस्तित्व का आधार माना जा सकता है। उसने कभी भी अपने आदर्शों के मुद्दे पर अपनी मृत्यु तक कोई समझौता नहीं किया। इस तरह का उपन्यास और उसकी कथा हमारे राष्ट्र के बौद्धिक जीवन के एक महत्वपूर्ण हिस्से की कथा है, जो बेहद अफसोस और दुःख देती है। लेकिन यह कहना उचित होगा कि श्रवणकुमार का उपन्यास आज और अधिक प्रासंगिक है।

संदर्भ : 1) श्रवणकुमार गोस्वामी, 'मेरे मरने के बाद', राजपाल एण्ड सन्ज, कश्मीरी गेट, दिल्ली-1985 पृष्ठ-7, 2) वही, पृष्ठ- 8, 3) वही, पृष्ठ- 8, 4) वही, पृष्ठ- 9, 5) वही, पृष्ठ- 9, 6) वही, पृष्ठ- 19-20, 7) वही, पृष्ठ- 19, 8) वही, पृष्ठ- 23, 9) वही, पृष्ठ-23, 10) वही, पृष्ठ- 24, 11) वही, पृष्ठ- 31, 12) वही, पृष्ठ- 51, 13) वही, पृष्ठ- 51, 14) वही, पृष्ठ- 51, 15) वही, पृष्ठ- 52, 16) वही, पृष्ठ- 55, 17) वही, पृष्ठ- 42, 18) वही, पृष्ठ- 62, 19) वही, पृष्ठ- 90, 20) वही, पृष्ठ-147, 21) वही, पृष्ठ 148, 22) वही, पृष्ठ 150-151

सहा. प्राध्यापक एवं हिन्दी विभागप्रमुख
पार्वतीबाई चौगुले महाविद्यालय,
मड़गाँव-गोवा
■ ■ ■

अजानी दुनिया की कथा है 'हस्तक्षेप'

डॉ. अनिल सिंह

श्रवणकुमार गोस्वामी के साहित्य ने 'साहित्य जगत' में अपनी एक विशिष्ट पहचान बनाई है। गोस्वामीजी बगैर किसी चर्चा, समीक्षा या आलोचना की परवाह किए समर्पण-भाव से लेखन में सक्रिय हैं। ऐसे में लेखन कार्य करना बड़ा मुश्किल होता है, लेकिन लेखक की कलम निरंतर साहित्य जगत में चलती रही। जब मुझे डॉ. गोस्वामी के सभी उपन्यासों तथा अन्य विधाओं में लिखी गई उनकी कृतियों को पढ़ने व समझने का अवसर मिला, उस समय मैंने महसूस किया कि उनका साहित्य अवश्य ही पठनीय है। 'हस्तक्षेप' उपन्यास आदिवासी समुदाय के साथ होने वाले उत्पीड़न की त्रासदी है। इस उपन्यास के अध्ययन से पता चलता है कि आदिवासी लोग पहाड़ों एवं जंगलों के मध्य रहकर किस प्रकार का जीवन व्यतीत करते हैं।

स्वतंत्रता के पूर्व जब 'आदिवासी' शब्द का प्रयोग किया जाता था, तब हमारे नेत्रों के समक्ष एक अत्यंत दीन-हीन शोषित तथा उपेक्षित व्यक्ति एवं समाज की तस्वीर आकर खड़ी हो जाती थी। स्वतंत्रता के बाद यह शब्द आज अत्यंत संभावनाओं का बन गया है। यह मानव-विज्ञान का मेरुदंड तो है ही, साथ ही राजनेताओं तथा गैरसरकारी संस्थाओं की आय का स्रोत भी है। आज आदिवासी के बीच ऐसे लोगों की कोई कमी नहीं है, जो जमींदारों तथा महाजनों की तरह ही शोषक बनकर अपने ही समाज का शोषण कर रहे हैं। आदिवासियों की संस्कृति, परंपरा तथा उनकी रक्षा के नाम पर लोग अपना धंधा चला रहे हैं। सरकार आदिवासियों के कल्याण के लिए तरह-तरह के अनुदान देती है मगर कल्याण आदिवासियों का न होकर, इन धंधेवालों का होता है। लेखक ने इस उपन्यास के माध्यम से इसी आदिवासी समाज के साथ होनेवाली जातीयता का पर्दाफाश किया है तथा वर्तमान समय में इनकी स्थिति-परिस्थिति क्या है, उसका चित्रण किया है।

'हस्तक्षेप' उपन्यास में श्रवण कुमार गोस्वामी ने आदिवासी लड़कियों के साथ होनेवाले अत्याचार, शोषण, अश्लीलता आदि का वर्णन किया है। शिक्षा के क्षेत्र में आदिवासी लड़कियों की रुचि बढ़ी है। लेकिन ये गुंडों व राजनेताओं के हवश का शिकार बन जाती है। आमछा छात्रावास में रहनेवाली कार्नीलिया तथा लूसी देह व्यापार में संलग्न लड़कियाँ

है। घोष बाबू जैसे अधीक्षकों को रिश्वत खिलाकर छात्राओं के भोजन का बड़ा हिस्सा डकार जानेवाले ठेकेदार भी हैं। छात्रावास के भीतर विधायक के गुंडों का आतंक भी है। इस आतंक के बावजूद 'आमछा' यानी लड़कियों का वह छात्रावास, इस उपन्यास फलक को एक सार्थक विकास देने के निमित्त ही सिद्ध होता है। इस घटना से यह सिद्ध होता है कि आदिवासी लड़कियों को लालच देकर उनका यौन शोषण किया जाता है। इससे लेखक की आत्मा आहत होती है। अतः उपन्यासकार ने इस उपन्यास के माध्यम से यौन शोषण की शिकार आदिवासी लड़कियों को न्याय दिलाने का प्रयास किया है।

हमारे देश में आदिवासी संस्कृति व संस्कार को संरक्षण की आवश्यकता है क्योंकि भारत की पहचान भारतीय संस्कृति के बल पर है। संस्कृति में भी 'आदिवासी संस्कृति' ज्यादा गौरवान्वित करती है। आदिवासी युवक रहमत मियाँ हैं। वे आदिवासी संस्कृति को विकसित करना व उसका राष्ट्रीय स्तर पर प्रचार-प्रसार करना चाहते हैं। "रहमत मियाँ दिल्ली से पता लगाकर आये हैं कि नये प्रधानमंत्री की ताजातरीन सनक है संस्कृति-भारतीय संस्कृति.... संस्कृति की प्रगति।"⁸ लेखक ने स्पष्ट किया है कि आदिवासी संस्कृति की भूमिका बहुत ही महत्वपूर्ण है। हमारे देश की संस्कृति को शक्ति प्रदान करने वाली 'आदिवासी संस्कृति' अपने आप में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है।

आदिवासी संस्कृति के नृत्य व गीत को देखने व सुनने वालों की एक बड़ी भीड़ जमा हो जाती है। भीड़ जमा करना इनका उद्देश्य नहीं, बल्कि ये अपनी कलाकृति के माध्यम से लोगों का दिल जीत लेते थे। लोग पता लगाते रहते हैं कि कहाँ आदिवासी सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन किया जा रहा है। इस संदर्भ में लेखक ने बताया है कि इनके कार्यक्रम की धूम पूरे देश में मची रहती है। एक रिक्शावाला लाउडस्पीकर लगाकर नगर के प्रत्येक चौराहे, मुहल्ले और गली में घूम-घूमकर प्रचार करने लगा- "भाईयो और बहनो, आज रात को आठ बजे 'महात्मा गाँधी उच्च विद्यालय' के मैदान में एक विराट सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन किया जा रहा है। इस आयोजन में आप आदिवासी नाच-गाना के साथ-साथ कवि सम्मेलन का भी मजा ले सकेंगे। इस कार्यक्रम में हमारे लोकप्रिय जिलाधीश महोदय भी पधारेंगे। इस अवसर पर आप अपने पूरे परिवार के साथ अवश्य आने की कृपा करें। याद रखिएगा आज ही रात को ठीक आठ बजे 'महात्मा गाँधी उच्च विद्यालय' के मैदान में।"⁹ इस कार्यक्रम को देखने के लिए भारी संख्या में लोगों का जमा होना 'आदिवासी संस्कृति' की सफलता ही कहलाएगी। श्रवणकुमार गोस्वामी ने आदिवासी संस्कृति के जन-जीवन को नजदीक से देखा है। इसलिए 'हस्तक्षेप' उपन्यास उसका प्रमाण है।

'आदिवासी की सेवा यानी अपने ही भाईयों की सेवा' करने वाले नेता विधायक अपनी-अपनी रोटी सेंकते हैं। इन्होंने आदिवासियों को बहला-फुसलाकर उनकी जमीन

हड़पना शुरू कर दिया। “आदिवासी लोगों को सौ, दो सौ रुपये देकर बाहरी लोगों ने बड़ी-से बड़ी जमीन को अपने नाम लिखवा लिया। कभी-कभी तो आदिवासियों को पीने के लिए एक बोतल शराब या हंडिया ही दी गई और उनसे एक बड़ा भूखंड हथिया लिया गया।”³ यह शोषण पहले से चले आ रहा है। मदिरापान, माँस व अपनी नासमझ के कारण आदिवासी अपना ही शोषण स्वयं करवा लेते हैं। लेखक ने इनके भीतर जन-जागृति लाने का प्रयास किया है। यदि इसके बाद भी आदिवासी पहाड़ों और वनांचल में मदिरापान के नशे में डूमते रहेंगे तो उनके जीवन में कभी भी सुधार नहीं आएगा। इसलिए सरकार के अनुदान से लाभान्वित होना व अपने जीवन स्तर में सुधार लाना इनका परम कर्तव्य है।

श्रवण कुमार गोस्वामी ने आदिवासी संस्कृति व उनके जीवन स्तर में आयी गिरावट का सूक्ष्म अध्ययन किया है। इनके अध्ययन के मूल में मदिरापान ही दिखाई देता है। “यह नशाखोरी ही आदिवासियों को तबाह किये रहती है। मगर आदिवासी परंपरा के नाम पर नशा नहीं छोड़ते। यह शराब उनसे उनकी जमीन छीन लेती है। उनकी बहू-बेटी की इज्जत छीन लेती है। उनसे उनकी मातृभूमि छुड़वा देती है। उनकी हर दुर्दशा के केंद्र में यह मदिरा ही होती है। यह मैंने महुआ से ही सीखा कि मदिरा छोड़े बिना आदिवासी आगे बढ़ नहीं सकते।”⁴ इनके जीवन के मूल में मदिरापान ही है जो इनके जीवन को तबाह करने का मुख्य साधन है। सरकार इनके जीवन स्तर में सुधार के लिए इन्हें अनुदान दे सकती है, लेकिन मदिरापान को छोड़ने के लिए दवा नहीं दे सकती। अतः जब तक आदिवासियों को अच्छे बुरे का ज्ञान नहीं होगा, तब तक ये ऐसे ही शराब के नशे में अपना सब कुछ गँवाते रहेंगे।

आदिवासी समाज को सुधारने का बीड़ा महुआ ने उठाया। वह ‘आमछा’ छात्रावास की अध्यक्ष के रूप में आती है और छात्रावास की गंदगी को देखकर उन्हें बड़ा दुख होता है। वह कहती है कि जब तक मैं इस छात्रावास की अध्यक्ष बनी रहूँगी, तब तक कोई गलत काम नहीं होने दूँगी। नेता, विधायक, सांसद आदिवासी लड़कियों को खिलौना बनाकर खेलते हैं। अब यह अत्याचार और नारी शोषण बंद होगा। महुआ ने आदिवासी लड़कियों को निर्भय बनाया, शान से जीना सिखाया, अन्याय का विरोध करना भी सिखाया। सबसे बड़ी बात उन्होंने सीखी-“जो भी करो अनुशासित रहते हुए करो। दीदी ‘आमछा’ की जान हैं। जिन लोगों ने उनकी इज्जत पर हमला किया है, उन लोगों ने ‘आमछा’ की एक-एक छात्रा की इज्जत पर हाथ डाला है। हम उन हाथों को तोड़कर ही दम लेंगी, ताकि वे अपवित्र हाथ फिर किसी की ओर न उठ सकें।”⁵ छात्रावास की सभी लड़कियाँ महुआ की इज्जत को अपनी इज्जत समझकर समाज में पोषित दरिदों के खिलाफ अपनी आवाज बुलंद करती हैं।

श्रवण कुमार गोस्वामी ने 'हस्तक्षेप' उपन्यास के माध्यम से आदिवासी समाज को दर्पण दिखाने का काम किया है। समाज में फैलने वाली गंदगी पर पर्दा डालना नहीं, बल्कि उसे समाज के सामने लाने का प्रयास किया गया है। महुआ के साथ होने वाले दुष्कर्म पूरे आदिवासी समाज के कान खड़े कर देते हैं। महुआ अपनी लड़ाई स्वयं लड़ती है। यह एक नया कदम है कि कोई आदिवासी लड़की न्याय के लिए अदालत का दरवाजा खटखटाती है। अक्सर आदिवासी युवतियाँ और महिलाएँ जो बलात्कार की शिकार होकर भी न्याय पाने के लिए सामने नहीं आतीं क्योंकि वे पुलिस, डाक्टर, वकील और कचहरी की चक्की में पिसना नहीं चाहतीं। उनके मन में डर रहता है और रहती है एक आशंका। भयभीत और आशंकित होकर कुछ भी नहीं पाया जा सकता। कुछ पाने की पहली शर्त होती है-निर्भय होना। निर्भय होने का मतलब होता है, हर अच्छे-बुरे परिणाम को झेल सकने की अपने भीतर शक्ति पैदा करना। जो ऐसा कर पाते हैं, उनके कदम आगे की ओर बढ़ जाते हैं और जो भयभीत तथा आशंकित होकर बैठे रह जाते हैं, वे लोग अभिशप्त होते हैं, सब कुछ झेलने के लिए। यहाँ लेखक ने यह बताने का प्रयास किया है कि जब तक जीवन में हर परिस्थिति का सामना डूँटकर नहीं करेंगे। तब तक समाज के लोग कमजोर वर्ग को तुच्छ समझकर झुकाते रहेंगे।

'हस्तक्षेप' उपन्यास समग्रतः कहा जाए तो आदिवासी संस्कृति, खान-पान, रहन-सहन व उनकी कलाकृतियों से भरा पड़ा है। इसके साथ ही जीवन संघर्ष की भी घटनाएँ उल्लेखित हैं। महुआ का जीवन आदिवासी समाज का मार्गदर्शन करने व अन्याय के खिलाफ आवाज उठाने में व्यतीत हुआ है। आदिवासियों को शिक्षित करना, अपनी संस्कृति को धरोहर समझना, शोषण के लिए लड़ना, मदिरापान का त्याग करना आदि अनेक महत्वपूर्ण बिंदुओं पर गहराई से विचार किया गया है। यह उपन्यास आदिवासियों का मार्गदर्शन नहीं बल्कि समूचे राष्ट्र के पिछड़े वर्ग के लिए प्रेरणा स्रोत का माध्यम भी बन सकता है। लेखक की कलम और विचार दोनों के तालमेल से इस उपन्यास का उत्कृष्ट रूप से सृजन किया गया है।

संदर्भ ग्रंथ :

१. हस्तक्षेप, श्रवण कुमार गोस्वामी, पृष्ठ-३५
२. वही, पृष्ठ-३७
३. वही, पृष्ठ-७८
४. वही, पृष्ठ-१४६
५. वही, पृष्ठ-१७८

अध्यक्ष हिंदी विभाग
एस. बी. कॉलेज शहापुर, ठाणे



सार्वजनिक उद्योगों की बढहाली और राहु-केतु उपन्यास

डॉ. कृष्ण कुमार श्रीवास्तव

आजादी के बाद भारत ने मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाया। इस क्रम में जो निजी उद्योग हैं, वे प्रायः लगातार मुनाफा कमा रहे हैं और सरकारी उपक्रम लगातार घाटे में जा रहे हैं। इसके पीछे मूल कारण यह है कि निजी उद्योगों का उद्देश्य मुनाफा कमाना है और सार्वजनिक उपक्रमों के उद्देश्य में 'वेलफेयर स्टेट' शामिल है। निजी उपक्रम के अधिकारियों, कर्मचारियों की नकेल मालिक के द्वारा हमेशा कसी जाती रहती है, इसलिए वहाँ बेहतर उत्पादन हो रहा है। उत्पादन की गुणवत्ता भी ठीक बनी रह पा रही है। अधिकारी, कर्मचारी नियमित रूप से समय से कारखाने पहुँच जाते हैं। वहीं दूसरी ओर सार्वजनिक उपक्रम में इसके विपरीत किसी के प्रति कोई सीधी जवाबदारी न होने के कारण और सीधे राजनैतिक हस्तक्षेप की वजह से लगातार गुणवत्ता पर असर पड़ता है। फलतः घाटा स्वाभाविक है, अधिकारी कर्मचारी अपनी ही संस्था को खोखला करने में जुटे रहते हैं। घोर अराजकता की स्थिति रहती है प्रायः राष्ट्रीय महत्व के सारे उपक्रमों में।

राहु-केतु, श्रवण कुमार गोस्वामी के द्वारा भारतीय उद्योगों के विनाश का शिलालेख लिखने वाले नेताओं, अफसरों के गठजोड़ की कथा पर केन्द्रित उपन्यास है। प्रधानमंत्री सार्वजनिक क्षेत्र के सारे उपक्रमों के लगातार घाटे में चलने से अत्यंत चिंतित थे। उनकी नींद हराम थी निजी क्षेत्र की ओर यह देखकर कि - 'जो आदमी आज एक ट्रक खरीदता है, वह तीन-चार वर्षों में दस-बारह गाड़ियों का मालिक बन जाता है। जिसने कल एक छोटा सा कारखाना लगाया था, वह आज उद्योगपति कहलाता है।' प्रधानमंत्री यह सब बातें देश के बड़े उद्योगपति तिलकराज के सामने रखते हैं और इसके मूल कारण जानना चाहते हैं तो वह सही नब्ज पर उंगली रखते हुए कहते हैं 'ईमानदारी और परिश्रम' की कमी है यहाँ।

काफी न नुकुर के बाद तिलकराज प्रधानमंत्री के राष्ट्रीय उद्योग नगर के राष्ट्रीय उद्योग निगम का अध्यक्ष पद इस शर्त के साथ स्वीकार करते हैं कि उनके काम में कोई दखलंदाजी नहीं देगा। वे सिर्फ और सिर्फ प्रधानमंत्री के प्रति उत्तरदायी होंगे और किसी के प्रति नहीं। उनकी इस शर्त को प्रधानमंत्री स्वीकार भी कर लेते हैं। अंततः जब रेडियो के

माध्यम से राष्ट्रीय उद्योग निगम के कर्मचारी और अधिकारी यह जानते हैं कि तिलकराज को निगम का अध्यक्ष बनाया गया है तो उनके समूहों में कई तरह की अफवाहें, शिगूफे, डर और भय फैलने लगते हैं।

तिलकराज सबसे पहले अपने पाँच आदमियों को कारखाने के अलग-अलग संवर्गों का जायजा लेने के लिए भेजते हैं। मिस्टर सक्सेना ने बताया कि इस संस्थान में - 'जिसने नियुक्ति के समय पैसे खर्च किए उसे कुशल मजदूर मान लिया गया और जिसने पैसे नहीं खर्च किए उसे अकुशल या अर्ध कुशल मान लिया गया।' अधिकांश मजदूरों में कार्य संस्कृति का अभाव है। इनके यूनियन जातीय आधारों पर बंटे हुए हैं। मिस्टर फिलिप ने अधिकारियों के बारे में रिपोर्ट करते हुए कहा-प्रायः सभी अधिकारी भ्रष्ट हैं। सब पर किसी न किसी बड़े अधिकारी की छत्र-छाया है। इसीलिए ये कारखाने में चोरियाँ कराते रहते हैं और पुलिस भी इनका कुछ नहीं बिगाड़ पाती। अब तो पुलिस भी इनकी चोर-बाजारी में शामिल हो गई है। नारायण बाबू ने मजदूर यूनियनों की रिपोर्ट देते हुए बताया कि- सारी मजदूर यूनियनें जाति के नाम पर चल रहीं हैं। सबसे बड़ी यूनियन सत्तारूढ़ पार्टी की है। इसका महामंत्री शमशेर सिंह है। इसके सिर पर बड़े-बड़े मिनिस्ट्रों का हाथ है। सबसे पहले आपका मुकाबला इसी आदमी से होगा।

तिलकराज के राष्ट्रीय उद्योग निगम पहुँचने पर अधिकांश अधिकारी उनकी चापलूसी के लिए उनके स्वागत में इक्कठे हो गए। तिलकराज ने उन सबके वहाँ होने की नाराजगी 'माएकर' को जताई। अपने सम्मान में होने वाले जलसे में जाने से भी उन्होंने इंकार किया। बाहुबली मजदूर नेता शमशेर सिंह द्वारा आयोजित सम्मान समारोह में भी जाने से उन्होंने इंकार कर दिया। अपनी तरफ से मजदूरों और अधिकारियों की उन्होंने एक मीटिंग बुलाई और अपने सम्बोधन में खुद को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों घोषित किया जिससे अधिकारियों की भृकुटियाँ तनीं किन्तु आम मजदूरों ने जम कर तालियाँ बजाईं।

दूसरे दिन कारखाने की सुरक्षा व्यवस्था का जायजा लेने के लिए एक ट्रक पर सवार होकर तिलकराज ने गेट नंबर एक से प्रवेश किया, गेट कीपर राम सिंह ने पाँच रुपए लेकर ट्रक को जाने दिया। पाँच नंबर गेट से जब वे कारखाने के बाहर निकलने लगे तो गार्ड जंग बहादुर थापा ने दस रुपए का लालच भी नहीं किया और ट्रक के टायर पर गोली चला दी। दूसरे दिन सुबह कारखाने में जगह-जगह रामसिंह के फोटो के साथ झूठे का मुँह काला और जंगबहादुर के फोटो के साथ सच्चे का बोलबाला लिखे हुए पोस्टर चिपके मिले। जंगबहादुर थापा को एक हजार रुपए का इनाम भी मिला। चारों ओर तिलकराज के बारे में ही चर्चा होने लगी।

अगले दिन तिलकराज कारखाने के ईंट के भट्टे का मुआयना करने गए और वहाँ जाकर देखा कि भट्टे पर सात कर्मचारियों की नियुक्ति के बावजूद एक चपरासी मात्र अपनी ड्यूटी करता हुआ पाया गया। अगले ही दिन उन्होंने चीफ इंजीनियर, सिविल,

मिस्टर चटर्जी को बुलाया और सारे घपलों को समझते हुए अंततः शाम चार बजे तक उनके इस्तीफे के इंतजार करने की बात कही। ऐसा न होने पर उन्हें कार्यमुक्त कर दिया जाएगा।

चटर्जी के इस्तीफे से आतंकित हो कर कारखाने के बड़े अधिकारियों ने मिलकर शहर के होटल में मीटिंग की जिसमें मजदूर नेता शमशेर सिंह को भी आमंत्रित किया गया। सब ने मिलकर तिलकराज की कार्यशैली पर चिंता की और उसे यहाँ से निकाल बाहर करने की आवश्यकता पर सहमति व्यक्त की। इसके लिए एक संघर्ष समिति का भी गठन हुआ। समिति के संयोजक का दायित्व शमशेर सिंह को दिया गया। तनेजा ने घर आकर अपनी पत्नी मोनिका को कारखाने की इन दिनों के हालात से परिचित कराया और तिलकराज के बारे में बताया कि वह न तो पैसे लेता है, न दारू पीता है और न प्रशंसा पसंद करता है। वह सिर्फ काम और काम से ही प्रभावित होता है। मोनिका ने इसका अर्थ लगाते हुए काम शास्त्र से जोड़ा। तनेजा को लगा अब यह मोनिका ही अपनी नौकरी को बचाने का मोहरा हो सकती है।

एक दिन अमर चौधरी नाम के व्यक्ति को प्लैटिनम की छड़ों को चोरी से अपने ब्रीफकेस में ले जाते हुए पकड़ लिया। संयोग से अमर चौधरी मुख्यमंत्री का दामाद था। मुख्यमंत्री ने उसे छोड़ने के लिए तिलकराज को पहले आदेश दिया फिर याचना करने लगे। प्रधानमंत्री से शिकायत करने की धमकी दी। तिलकराज ने अंततः फोन काट दिया।

मजदूरों के बीच कानाफूसी शुरू हो चुकी थी, तिलकराज अच्छा आदमी है लेकिन अधिकारियों और शमशेर सिंह की मिलीभगत से यह अधिक दिन यहाँ टिक नहीं पाएँगे। अब तो मुख्यमंत्री भी इनके विरोधी हो गए हैं। शमशेर सिंह से मुख्यमंत्री ने कहा है कि इस आदमी को निकाल फेंको। अब बड़ी हड़ताल होगी। अगले दिन अपनी पचास माँगों के साथ सभी यूनियनों की सम्मिलित हड़ताल के पोस्टर कारखाने में जगह-जगह लगे हुए पाए गए। तिलकराज ने सभी यूनियन लीडरों को हड़ताल रोकने हेतु एक मीटिंग में आमंत्रित किया। दूसरी तरफ यह व्यवस्था भी की जिससे देश के सभी बड़े समाचार पत्रों में कारखाने में हड़ताल होने की स्थिति में नए कर्मचारियों को भरती किया जाएगा। यदि हड़ताल स्थगित हो जाती है तो उम्मीदवारों की एक सूची बना कर रख ली जाएगी और जैसे-जैसे जरूरत पड़ेगी नए कर्मचारियों की नियुक्ति होगी।

कारखाने के कर्मचारियों के लिए तिलकराज के विज्ञापन छपवाने के बाद हड़ताल फुस्स हो गई। हाँ, मजदूर यूनियन के प्रतिनिधियों की बैठक में शमशेर सिंह खूब तड़का-भड़का। तिलकराज ने अधिकारों के पहले कर्तव्य को याद रखने की ताकीद की। तनेजा ने अपनी पत्नी का जो उपयोग तिलकराज से सुविधाएँ पाने के लिए किया, वह उस पर उल्टा पड़ा। तनेजा को अपने ऑफिस में बुलाकर तिलकराज ने उसके साथ हुई सारी बातें रिकार्ड कर ली। तनेजा फनफनाता हुआ, बड़बड़ाता हुआ भागा। मजदूरों के बीच कारखाने के बदलते हुए हालातों को लेकर उल्लास था। वे बढ़े हुए बोनस की

आस लगाने लगे थे। तनेजा और शमशेर ने मिलकर उस कमरे में आग लगवा दी जहाँ करेप्सन से जुड़ी हुई फाइलें होने को प्रचारित किया गया था, अंततः ये दोनों गिरफ्तार कर लिए गए।

अठारह महीने बाद जब तिलकराज प्रधानमंत्री से मिले तो प्रधानमंत्री ने हर्ष व्यक्त किया साथ ही बताया कि आप के विरुद्ध इतनी शिकायतें आयी हैं कि मुझे अलग से एक व्यक्ति रखना पड़ा है, उन शिकायतों को संभालने के लिए। उन्होंने बताया कि कैसे मजदूर संगठन के प्रतिनिधि, अधिकारी, सप्लायर, मुख्यमंत्री, सांसद, उद्योग मंत्री आदि ने उनके खिलाफ शिकायतें की हैं। यहाँ तक कि कर्मचारियों को दो महीने का बोनस देने के खिलाफ भी शिकायत आयी। प्रधानमंत्री ने कहा कि आपने एक घाटे के उपक्रम को मुनाफे में बदल कर मेरे सपनों को साकार कर दिया। चलते हुए प्रधानमंत्री ने कहा कि यदि सरकार की तरफ से आप से कोई अनुरोध किया जाय तो अस्वीकार मत कीजिएगा। प्रधानमंत्री किंचित अस्वस्थ लग रहे थे।

तिलकराज को सरकार द्वारा 'राष्ट्रविभूषण' सम्मान से सम्मानित किया गया। इसके बाद कई संस्थाओं ने उन्हें सम्मानित करने की इच्छा व्यक्त की किंतु सबके समक्ष तिलकराज ने विनम्र असमर्थता व्यक्त की। मात्र प्रबंधन प्रशिक्षण संस्थान का आमंत्रण स्वीकार कर लिया। वहाँ अपने सम्मान ग्रहण के समय उन्होंने निजी उपक्रम और सार्वजनिक उपक्रम की तुलना करते हुए एक भाषण दिया, जिसमें भारत जैसे देश में सार्वजनिक उपक्रम के संकटों को रेखांकित किया-सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योग का कोई माँ-बाप नहीं होता। अपने देश में कम-से-कम यही बात है।...यहाँ बात-बात पर मुख्यमंत्री, उद्योगमंत्री और पता नहीं कितने लोग हैं, जिनके फोन आते रहते हैं। वे सभी अपने नालायक आदमियों को ऊँची से ऊँची जगह पर बिठा देने के लिए परेशान रहते हैं। नतीजा यह कि सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों में नालायकों की एक बहुत बड़ी फौज तैयार हो गई है।' वस्तुतः १९९१ तक आते-आते उदारीकरण, निजीकरण, भूमण्डलीकरण का जो दौर चल पड़ा उसके मूल में सार्वजनिक उपक्रमों की यह बदहाली ही है।

प्रधानमंत्री की हृदय गति रुक जाने से हुई मृत्यु से पूरा देश हतप्रभ रह गया तिलकराज भी। उन्होंने अपना त्यागपत्र नए प्रधानमंत्री के हाथ में दिया किन्तु प्रधानमंत्री ने उन्हें अपने पद पर बने रहने का अनुरोध किया। पूर्व प्रधानमंत्री की मृत्यु के बाद देश के हालात बदलने लगे। अफरा-तफरी मची हुई थी सत्ताधारी दल में। उद्योग मंत्री ने तिलकराज से अपने होने वाले दामाद को राष्ट्रीय उद्योग निगम के बड़े पद पर बहाल करने की सिफारिश की किंतु तिलकराज इसके लिए बिलकुल तैयार नहीं हुए। प्रधानमंत्री अपने दल के चुनावों में हार का कारण खोजते हैं तो रेड्डी बोलता है- 'हमारे राष्ट्रीय जीवन में सरकारी अधिकारियों, पुलिस तथा व्यापारियों का बड़ा महत्व है। यदि ये नाराज हो गए तो आपका एक कदम आगे बढ़ाना मुश्किल ही नहीं बल्कि असंभव हो जाएगा।' विशिष्ट घटनाक्रमों के चलते अंततः शमशेर सिंह जेल से छूट गया और वह तिलकराज

को ललकारने लगा। मुख्यमंत्री और उद्योग मंत्री मिलकर तिलकराज को समझाते हैं कि तनेजा और चौधरी के खिलाफ मुकदमे वापस ले ले। आखिर शमशेर सिंह भी तो उसके न चाहने के बाद भी जेल से छूट ही गया।

खुद केंद्रीय नेतृत्व जब लोकतन्त्र की हत्या कर रहा हो, जब पैसे के जोर पर प्रादेशिक विपक्षी सरकारों में तोड़-फोड़ कराने में अपने दलालों के माध्यम से संलग्न हों तो देश की कानून व्यवस्था का हाल समझना बहुत मुश्किल नहीं होगा। इतने से ही उसके अहंकार को संतुष्टि न मिलती हो। अपने दल के सहयोग से असंतुष्ट विपक्षियों की बनाई गई सरकार को गिराने के लिए प्रधानमंत्री ने खुद अपने दलाल कपूर के माध्यम से, शमशेर सिंह के सहयोग से उद्योग नगर में सांप्रदायिक दंगे करवाए। अंततः प्रधानमंत्री खुद दंगा पीड़ितों से मिलने के बहाने उद्योग नगर आए और राजधानी आकर अमुक प्रदेश की सरकार को भंग कर राष्ट्रपति शासन लगवा दिया। इन दंगों का आरोप तिलकराज पर लगा कर उन्हें राष्ट्रीय उद्योग निगम के अध्यक्ष पद से मुक्त करने की साजिश रच ली। इन खबरों की पुष्टि अमेरिका की एक एजेंसी, जिसका काम भारत में बड़े ओहदे से हटाये गए लोगों को अपने देश में आमंत्रित करने का रहता है, के अधिकारी जान अब्राहम ने दी। जॉन ने यह भी बताया कि आज शाम ही आपको अपमानित किया जाएगा। आपसे जबरन त्यागपत्र लेकर गोपीकृष्ण भार्गव को यहाँ का अध्यक्ष बनाया जाएगा। तिलकराज ने देर न करते हुए राजधानी जाकर प्रधानमंत्री से मिल कर अपना इस्तीफा देने की ठानी। प्रधानमंत्री के मिलने से इनकार कर देने पर तिलकराज ने अपना त्यागपत्र प्रधानमंत्री को लिफाफे में भेज दिया। अपने त्यागपत्र में तिलकराज ने भारत में व्याप्त अराजकता के मूल में, प्रतिभा पलायन के मूल में गंदी राजनीति को ही माना। वे बड़े भावुक हो कर प्रधानमंत्री से पूछते हैं -जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में राजनीति इतनी हावी क्यों होती जा रही है? मनुष्य की कीमत क्यों इतनी तेजी से घटती जा रही है। सत्य का मार्ग क्यों इतना कंटकमय होता जा रहा है? दिखावा और छलावा क्यों बढ़ता जा रहा है? जाहिर है कि तब से लेकर आज तक के किसी प्रधानमंत्री के पास इसका कोई जवाब नहीं है। बहरहाल तिलकराज जब नए अध्यक्ष को चार्ज देने राष्ट्रीय उद्योग निगम जाते हैं तो देखते हैं कि उनके कक्ष पर अराजक लोगों का कब्जा हो चुका है। वे अपने निजी सचिव को ही चार्ज देकर वापस लौट आते हैं। उनके निकलते ही हजारों मजदूरों का हुजूम पहले उन्हें रोकने और फिर वस्तुस्थिति को समझ कर उन्हें विदा करने के लिए उमड़ पड़ता है। अपने प्रति इतना ममत्व और स्नेह देख कर तिलकराज की आँखें भी सजल हो उठती हैं।

अध्यक्ष-हिन्दी विभाग
आसनसोल गर्ल्स कॉलेज,
आसनसोल (पश्चिम बंगाल)



दर्पण झूठ ना बोले

डॉ. उमेश चन्द्र शुक्ल

बदलते हुए भारतीय राजनीतिक परिदृश्य तथा व्यवस्था में व्याप्त विसंगतियों के ऊपर 'दर्पण झूठ ना बोले' उपन्यास करारा प्रहार करता है। व्यवस्था के नाम पर आज राजनीतिक गलियारे में भ्रष्टतंत्र, फल-फूल रहा है और आम जनता दम तोड़ने को मजबूर है। आजादी के बाद से ही जनसेवा के नाम पर जनसेवक, राजनेता, सत्तारूढ़ दल, विपक्षी पार्टियाँ, पुलिस प्रशासन, सरकारी कर्मचारी आदि सभी जनता की सेवा में लगे हुए हैं। समाज के हाशिए पर खड़े अंतिम व्यक्ति के चेहरे पर मुस्कान लाने का इनका प्रयास सतत जारी है। लोकतान्त्रिक व्यवस्था के नियामकों के शब्दों में अगर कहें तो आम आदमी की बेहतरी के लिए उन्होंने अपना जीवन समर्पित कर दिया है किंतु आम आदमी अभिशाप्त जीवन जीने को मजबूर है। आज चारों तरफ अव्यवस्था, घूसखोरी, बेईमानी, अराजकता का साम्राज्य व्याप्त है। आम आदमी की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पा रही है। जनता अपनी बात अगर अधिकारी या राजनेता से कहना चाहती है तो बिना बिचौलिए के व्यवस्था को मिलना संभव ही नहीं है। लोकतान्त्रिक व्यवस्था में चारों तरफ कोटा-परमिट इंस्पेक्टरों का साम्राज्य फल-फूल रहा है। आम आदमी के शोषण, उत्पीड़न और दमन का व्यवस्थित क्रम जारी है। संसद के गलियारे से लेकर प्रशासनिक अधिकारियों के कार्यालय तक व्यवस्थित रूप से अव्यवस्था का नियम-कानून फल-फूल रहा है। जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सरकारी सस्ते गल्ले की दुकानों पर आई हुई खाद्य सामग्री और जीवन आवश्यक वस्तुओं को खुले बाजार में अधिक कीमत पर ब्लैक कर दिया जाता है। कोटेदार के पास राशन कार्ड से सामग्री लेने के लिए जाने पर पता चलता है कि अमुक वस्तु सस्ते गल्ले की दुकान पर उपलब्ध नहीं है। लाचार होकर आम आदमी को अधिक कीमत देकर ब्लैक में खरीदना पड़ता है। प्रशासनिक व्यवस्था में चारों तरफ बाबू और इंस्पेक्टरों का राज्य है। लोकतान्त्रिक व्यवस्था के नाम पर व्यवस्था और सत्ता की मलाई कट रही है। जनता की सुनने वाला कोई नहीं है।

'दर्पण झूठ न बोले' उपन्यास कोटा परमिट राज के सस्ते गल्ले की दुकान पर मिलने

वाली चीनी की घटना से शुरू होता है। जनता द्वारा व्यापारी से एक किलो चीनी माँगे जाने पर पहले तो वह दुतकारता है कि सुबह-सुबह बोहनी के समय दुकान पर मत आया करो क्योंकि बोहनी खराब हो जाती है। बदनीयत लाला की नजर जनता के खुले आँचल पर पड़ती है। जनता के उघड़े बदन को देखकर लाला फटाफट चीनी देने को तैयार हो जाता है। एक किलो चीनी की कीमत के रूप में लाला जनता द्वारा दिए गए बीस में से बारह रुपए काट लेता है। ज्यादा पैसे लिए जाने का जनता प्रतिवाद करती है- 'लाला बारह रुपये क्यों काट लिए? राशन की दुकान की चीनी चार रुपए किलो है। चार रुपए की जगह बारह रुपये क्यों लिया? लाला का जवाब है कि जनता देवी, चीनी मिलती कहाँ है? मैं सबको चीनी देता भी कहाँ हूँ? तू आ गई, इसलिए तुम्हें इनकार नहीं कर सका। तुम्हें चीनी मिल गई यही काफी है।

पर लाला जी, चीनी का भाव तो चार रुपये किलो है। जनता ने विरोध करते हुए कहा, अरे पगली, कहाँ है चार रुपये किलो चीनी? गया वह जमाना। तुझे पता नहीं पुरानी सरकार गई और नई सरकार आ गई है? जनता जवाब देती है तो इससे क्या होता है? सरकार बदलने से कहीं चीनी का भाव बदलता है? लाला को गुस्सा आने लगता है जनता लाला से चीनी की रसीद माँगती हैं। लाला ने रसीद देने से साफ मना कर देता है और जनता से चीनी रखकर जाने के लिए कहता है। भीड़ इकट्ठा हो जाती है। भीड़ के दबाव बस लाला को मजबूरन रसीद देनी पड़ती है। लाला रसीद देने में चालाकी करता है। जनता समझती है। उसे बारह रुपये की रसीद लाला ने दी है किंतु ऐसा नहीं है, लाला ने अंग्रेजी में रसीद बना कर दे दी जिसे जनता पढ़ नहीं सकती। इस तरह लेखक ने जनता की भाषा और व्यापारी की चालाकी को उजागर किया है। वन केजी सूगर फोर रुपीज। राहगीर ने रसीद पढ़ने के बाद लाला से कहा कि चीनी का दाम राशन की दुकान पर चार रुपए किलो है। जनता को चार में ही मिलनी चाहिए। राहगीर से लाला गुस्से में कहता है देखो बाबू जायज-फायज मैं कुछ भी नहीं जानता...। राहगीर ने लाला से कहा लाला जी आप चीनी ब्लैक कर रहे हैं और ऊपर से तैश में भी बात कर रहे हैं। यह ठीक नहीं है। राहगीर जनता को कोतवाली लेकर जाता है। कहता है कि कोतवाल से तुम्हें लाला की शिकायत करनी है। वहाँ चलकर तुम कोतवाल को बताना कि तुम्हारे साथ क्या हुआ है और लाला ने कैसे तुम्हारे साथ बेईमानी की है। डरो मत। काला बाजार करने के अपराध में लाला को कड़ी सजा मिलेगी। ऐसे लोगों पर कभी दया नहीं करनी चाहिए। यह लोग हमारे समाज के लिए कोढ़ हैं --कोढ़। ऐसे लोगों ने ही इस देश को नर्क बना दिया। राहगीर के साथ जनता कोतवाल के पास जाती है। राहगीर लाला के ब्लैक मार्केटिंग की सूचना देता है कोतवाल को, बदले में कोतवाल राहगीर को सौ रुपए पुरस्कार स्वरूप देता है, खबर देने के लिए। तुमने बहुत अच्छा काम किया। तुम देश के सच्चे नागरिक हो कालाबाजारियों को दंड दिलाना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है। मैं तुमसे बहुत खुश

हूँ लो, यह सौ रुपए का एक नोट। यह तुम्हारा इनाम है पुलिस को बराबर इसी तरह सहयोग देते रहना चाहिए। राहगीर अपना इनाम लेकर निकल जाता है।

जनता की शिकायत पर कोतवाल लाला को सिपाही भेज कर थाने बुला लेता है। लाला को फटकारते हुए कोतवाल कहता है-क्यों लाला तेरे पंख निकल आए हैं क्या? तू मेरे रहते मेरे इलाके में चीनी का ब्लैक करता है? चार रुपए किलो की चीनी बारह रुपये किलो बेचने की हिमाकत करता है? एक किलो चीनी की जगह तू ग्राहकों को आधा किलो ही चीनी देता है। कोतवाल लाला को डाँटता है, जनता की रसीद दिखाते हुए लाला से कहता कि यह लिखावट किसकी है? तुम्हारी ही लिखावट है? फिर लाला तूने चीनी का ब्लैक किया है। यह तेरा पहला अपराध है। तुमने वजन में भी घपला किया है। यह तुम्हारा दूसरा जुर्म है। बारह रुपए लेकर तुमने चार रुपये की रसीद काटी है। यह तुम्हारा तीसरा जुर्म है। सबसे बड़ा जुर्म तुम्हारा ये है कि तुमने जनता को धोखा दिया है। मैं सब कुछ बर्दाश्त कर सकता हूँ, मगर यह कभी भी बर्दाश्त नहीं कर सकता कि कोई जनता को धोखा दे। क्या तुम्हें मालूम नहीं कि हम जनता के सेवक हैं? जनता को कोई तकलीफ नहीं हो, यह देखना हमारा काम है। लाला अपनी तरफ से लाख सफाई देता है। कोतवाल जनता की सेवा के नाम पर लच्छेदार शब्दों में लाला को ईमानदारी का पाठ सिखाता है। लाला के द्वारा किए गए अपराध के लिए उसे मिलने वाली सजा का भय दिखलाता है। लाला, पहले जुर्म के लिए एक साल, दूसरे जुर्म के लिए 2 साल, तीसरे जुर्म के लिए तीन साल.... कुल मिलाकर 6 साल हुए। तुम्हें इतनी सजा तो मिलकर रहेगी। इससे कम सजा तुम्हें कभी नहीं मिल सकती। कोतवाल की नजर लाला के गले में लटकती हुई सोने की चेन पर गई। लाला कोतवाल की नजर को पहचान लेता है। माई बाप, इसे आप ही रख लीजिए। आपके गले में यह खूब फबेगी। मेरे गले में तो अब यह गड़ने लगी है। उसे मुक्ति का रास्ता इसी बात में दिखाई पड़ता है कि अगर वह अपने गले की चेन कोतवाल को दे दे तो उसे मुक्ति मिल सकती है। चेन निकालकर वह कोतवाल को देने का प्रयास करता है, कोतवाल उसे डाँटता फटकारता है। हवलदार से कहकर उसे हवालात में बंद करवा देता है। जनता के ऊपर कोतवाल का अच्छा प्रभाव पड़ता है। जनता से कोतवाल कहता है कि इसे 7 साल से कम की सजा नहीं होगी। जनता ने प्रसन्नता के साथ आगे बढ़ कर पूछा-यह रसीद ले लूँ? नहीं इसकी जरूरत होगी। कोतवाल ने कहा यह चीनी ले लूँ? जनता ने फिर पूछा। नहीं अदालत में इसे सबूत के रूप में पेश करना होगा। कोतवाल ने मुस्कुराते हुए कहा। मुखबिर को सौ रुपये, कोतवाल को सोने की चेन मिली। ब्लैक चीनी बेचने के जुर्म में पकड़े जाने के बाद लाला निश्चिंत होकर अपनी दुकान पर बैठे हैं। जनता लाला को देखती है उसे आश्चर्य होता है आखिर कोतवाल कल सात साल की सजा सुना रहा था, आज लाला अपनी गद्दी पर बैठा है। लाला को धिक्कारती और कोतवाल के पास जाती है।

जनता को देखकर सहमा-सहमा सा कोतवाल कहता है, मैं क्या करता? ऊपर से ऑर्डर आ गया, इसलिए मैंने लाला को छोड़ दिया। जनता से कोतवाल अपनी सफाई देता है। जनता कोतवाल पर व्यंग्य करती है, ऊपर का ऑर्डर आया था? जनता से नजरें बचाते हुए कोतवाल कहता है, हाँ, ऊपर का आर्डर आया था। जनता कोतवाल का मजाक उड़ाते हुए कहती है - ऊपर का ऑर्डर आया था? क्या ऊपर का आर्डर यह भी आया था कि लाला के गले की जंजीर उतार कर तुम खुद अपने गले में पहन लेना? जनता को कोतवाल डराते धमकाते हैं। जनता कहती है कल लाला को 7 साल तक जेल में बंद करने वाले 7 घंटे तक उसे जेल के अंदर नहीं रख पाए तो मुझे क्या बंद करोगे? तुम्हारी शिकायत मैं नगरपाल से करूँगी। कोतवाल अपनी नौकरी बचाने के लिए लाला से घूस में ली। जंजीर नगर कोतवाल की बीवी को उपहार में दे देता है।

नगरपाल से मिलने के लिए जनता जाती है कि रास्ते में उसे वही राहगीर मिलता है। राहगीर नगरपाल से शिकायत करने से मना करता है। कहता है कि शिकायत करने से कुछ होने वाला नहीं है। उसका नाम जमाना है, वह जमाने को अच्छी तरह जानता है। जमाना के द्वारा मना किए जाने पर भी जनता शिकायत लेकर नगरपाल के पास शिकायत लेकर जाती है। नगरपाल की कोठी पर जनता को पता चलता है कि नगरपाल खास-खास लोगों से मिलते हैं। उसे इस बात पर ताज्जुब होता है। जमादार बताता है, साहब अपनी कोठी में खास खास लोगों से ही मिलते हैं। बड़े-बड़े लोग इसका क्या मतलब हुआ। जनता ने उत्सुकता से पूछा। बड़े-बड़े लोग याने सेठ साहूकार अफसर नेता बगैरह --- बस ऐसे ही लोगों से अपनी कोठी पर मिलते हैं। जनता नगरपाल का इंतजार करती है। बहुत इंतजार के बाद नगरपाल से मुलाकात तो होती है। उपेक्षा से नगरपाल उससे पूछते हैं क्या काम है। मैं कोतवाल के खिलाफ शिकायत करने आई हूँ। उसने रिश्वत लेकर लाला को छोड़ दिया है। जनता निर्भीकता के साथ बोल गई। नगरपाल ने पूछा यह लाला कौन है। फिर तुम्हें जो कुछ कहना है लिख कर दे दो। जनता कहती है कि वह पढ़ी-लिखी नहीं है। उपेक्षा के साथ नगरपाल कहता है कचहरी के बाहर सैकड़ों मुंशी बैठे हैं, किसी से लिखवा कर दे दो। जनता परेशान होती है।

वह लाला, कोतवाल और नगरपाल की शिकायत लेकर मुख्यमंत्री के पास जाती है उसकी मुलाकात मुख्यमंत्री से नहीं हो पाती। जनता मुख्यमंत्री से मिलने के लिए परेशान रहती है। एक पथिक मिलता है। जनता को सुझाव देता है कि इस तरह वह कभी भी मुख्यमंत्री जी से नहीं मिल सकती। उसे अगर मुख्यमंत्री जी से मिलना है तो कल सुबह जब मुख्यमंत्री जी अपने बंगले से बाहर जाएँ, उसी समय उनकी गाड़ी के सामने आकर लेट जाओ। मुख्यमंत्री जी से मुलाकात हो जाएगी। इतना ही नहीं, तुम्हारे मुलाकात की खबर समाचार पत्रों में भी छपेगी। जनता उत्साहित होकर पथिक से कहती है-ठीक है यदि ऐसी बात है तो मैं कल वही करूँगी जो आपने बताया है। जनता मुख्यमंत्री की

कार के आगे लेट जाती है। मुख्यमंत्री उससे मिलते हैं। यह कितने शर्म की बात है कि जनता मुझसे नहीं मिल सकती... यह कितनी शर्म की बात है जनता मुझसे मिलना चाहती है और लोग उसे मुझसे मिलने नहीं देते.... यह कितने शर्म की बात है कि लोग मुझे जनता के दुख दर्द के बारे में कुछ भी नहीं बताते.... यह मेरे लिए डूब मरने की बात है कि मुझसे मिलने के लिए जनता को आत्महत्या करने की तैयारी करनी पड़ती.... छी छी... जी में आता है कि प्रदेश मंत्री के पद को लात मार दूँ.... जी में आता अपना माथा फोड़ लूँ। जी में आता है सबका गला घोट दूँ। नहीं नहीं मुझे अपना ही गला घोट लेना चाहिए। जनता की शिकायत के बाद मुख्यमंत्री सचिव को बुलाते हैं। जनता की शिकायत पर पूरी चर्चा पर चर्चा होती है। वस्तुओं की कालाबाजारी हो रही है। यह ठीक नहीं है। लाला की शिकायत जनता ने कोतवाल के यहाँ की, कोतवाल ने कुछ नहीं किया तो लाला और कोतवाल की शिकायत जनता ने नगरपाल से की, नगरपाल से भी जनता को न्याय नहीं मिला तो वह मुख्यमंत्री के पास शिकायत लेकर आई है। जनता को पूरा विश्वास है कि मुख्यमंत्री उसके साथ न्याय करेंगे। उसे उचित कीमत पर चीनी और जीवन की अन्य आवश्यक वस्तुएं मिलेंगी। जनता को इस बात की प्रसन्नता है कि उसने भ्रष्टाचार फैलाते लाला, कोतवाल और नगरपाल की शिकायत मुख्यमंत्री से की है। उसे न्याय मिलेगा। बहुत दिनों के बाद मुख्यमंत्री कार्यालय से जनता को पत्र मिलता है। पत्र अंग्रेजी में लिखा हुआ है जनता पढ़ना लिखना जानती नहीं। जमाना पत्र पढ़कर उसे बताता है कि, 'लिखा है कि तुमने जो शिकायत की थी उसकी पूरी-पूरी जाँच की गई है। जाँच करने पर पाया गया कि तुम्हारी शिकायत बेबुनियाद है। तुम्हारी शिकायत को ध्यान में रखकर कोतवाल और नगरपाल का वहाँ से तबादला कर दिया गया है। जमाना के द्वारा पत्र पढ़े जाने पर जनता बहुत खुश हुई प्रसन्नता से नाचने लगी, नाचते हुए उसने कहा मैं जानती थी कि इस बार तीनों को सजा मिलकर रहेगी।मुख्यमंत्री ने मुझे आश्वासन दिया था.... मुख्यमंत्री ने जो कहा वह उन्होंने कर दिया.... मुख्यमंत्री जिंदाबाद... प्रदेश मंत्री जिंदाबाद..... मैं कहती थी ना कि दुनिया मैं आज भी इंसाफ है.... दुनिया में आज भी न्याय प्रिय लोग हैं। तबादले की बात सुनकर जनता को लगता है कि उसे न्याय मिल गया। जमाना उसे समझाता है कि उनका तबादला तो कर दिया गया किंतु उनका तबादला तरक्की के बाद किया गया है। मुख्यमंत्री ने कोतवाल को नगर कोतवाल बना दिया और नगर कोतवाल को महाकोतवाल बना दिया। नगरपाल को महानगर पाल बना दिया गया है।

इस तरह श्रवण कुमार गोस्वामी ने बड़े बेवाक तरीके से सत्ता और प्रशासन की विसंगतियों पर करारा प्रहार किया है। सुनिए आप लोगों का तबादला तो होकर ही रहेगा। उसे कोई नहीं रोक सकता। ऐसा जनहित में करना होगा। यदि आप लोगों का तबादला नहीं किया गया तो सरकार की बड़ी बदनामी होगी। नगरपाल सचिव से कहता है। सर,

अगर हम तीनों का तबादला हो गया तो हम तीनों की भी काफी बदनामी हो जाएगी। फिर जहाँ कहीं भी जाएंगे काम करना मुश्किल हो जाएगा। साहब चाहेंगे तो बहुत कुछ हो सकता है, नगर पाल ने चिरौरी करते हुए कहा। सचिव रुकिए कहते हुए मुख्यमंत्री कक्ष में चला जाता है। उसने मंत्री से कहा, सर बीस-बीस में मामला तय हो सकता है। मगर तबादले के साथ-साथ तरक्की भी देनी पड़ जाएगी। दे दो तरक्की। तरक्की देने से अपना क्या घाटा होता है? प्रदेश मंत्री ने हरी झंडी दिखला दी। ठीक है सर सौदा तय कर लेता हूँ। मगर काम ऐसा होना चाहिए कि किसी को कुछ भी बोलने का मौका नहीं मिलना चाहिए। प्रदेश मंत्री सचिव पर छोड़ देते हैं कि वह सब कुछ निश्चित कर ले और शोर शराबा भी ना हो, सचिव मंत्री जी से कहता है सर, पहले मैं तबादला कर दूँगा और फिर सात-आठ दिनों के बाद दोनों को तरक्की दे दूँगा। ऐसा करने से जनता भी खुश हो जाएगी और यह तीनों भी संतुष्ट हो जाएंगे और अपना भी कुछ।

जनता की सेवा के नाम पर प्रशासनिक अधिकारी प्रदेश मंत्री को संतुष्ट कर देता है। अधिकारी व्यापारी और राजनेता तीनों की मलाई है। सचिव कुछ बोलना चाहता है कि मंत्री कहते कि ऐसा कुछ नहीं बोलना है जाओ। लोकतांत्रिक व्यवस्था में फैले हुए भ्रष्टाचार पर चर्चा करते हुए, जमाना जनता को समझाता है कि यही सच है, यही जमाना है... सभी यही करते हैं... मेरा कहा मानो ---- तुम भी यही करो ...तुम्हें भी कोई तकलीफ नहीं होगी।

जमाना अच्छे सलाहकार की तरह जनता से कहता है कि तुम भी इसी तरह भ्रष्ट आचरण करो। तुम्हें इस व्यवस्था में किसी भी तरीके की परेशानी नहीं होने वाली है। जनता जमाने की बात को सुनने को तैयार नहीं है। जनता जिद करती है कि वह प्रदेश मंत्री की शिकायत लेकर ऊपर जाएगी- 'नहीं नहीं नहीं.... कभी नहीं.... अगर यही सच है तो मैं प्रदेश मंत्री के खिलाफ भी ऊपर जाऊँगी.... मैं इस प्रदेश मंत्री को नहीं छोड़ सकती। मैं इसे मजा चखा कर छोड़ूँगी।

जनता को पूरा विश्वास है कि उसे न्याय मिलेगा जनता व्यवस्था गत विसंगतियों से अनजान है उसका पूरा विश्वास भारतीय संविधान पर है। लोकतांत्रिक व्यवस्था में उसे पता है कि उसके अधिकार क्या हैं? व्यवस्था के नाम पर फल फूल रही इस अव्यवस्था से अनजान जनता चीनी ब्लैक किए जाने के सवाल को लेकर कोतवाल, नगराध्यक्ष, प्रदेश मंत्री तक अपनी शिकायत लेकर जा चुकी है। जनता के सवालों का समाधान तो उसे नहीं मिला। हाँ उसकी शिकायत का फायदा उठाकर कोतवाल से लेकर प्रदेश मंत्री ने अपना हित साधन किया। लेखक राजनीति के भ्रष्ट चेहरे को उजागर करता है कि किस प्रकार जनता को न्याय दिए जाने के नाम पर अधिकारियों से घूस लेकर उनका ट्रांसफर कर दिया जाता है। जनता सोचती है कि प्रदेश मंत्री ने भ्रष्ट लोगों को सजा दी,

किंतु ऐसा है नहीं। उनसे पैसे लेकर उनका ट्रांसफर तो होता है किंतु पदोन्नति के साथ। लेखक ब्लैक मार्केटिंग, कोटा-परमिट राज, ट्रांसफर पोस्टिंग जैसे फलते फूलते व्यवसाय के ऊपर करारी चोट करता है। जनता की सेवा के नाम पर व्यवस्थित रूप से जनतंत्र की जगह लूट तंत्र फल-फूल रहा है। आम आदमी की समस्याओं को सुनने वाला कोई भी नहीं है। चारों तरफ अराजकता व्याप्त है। वास्तविकता यह है कि आज नीचे से लेकर ऊपर तक सभी भ्रष्ट हैं सभी ढोंगी हैं.... सभी के पास खाने के दांत और दिखाने के और हैं.... सभी के चेहरों पर हजार-हजार नकाबें हैं..... हजार-हजार मुखौटे हैं.... लोग जो तुम्हें ऊपर से दिखाई देते हैं, वे वही नहीं हैं.... वह कुछ और हैं। जमाना जनता से वर्तमान समय में व्याप्त विसंगतियों की ओर संकेत करता है-सभी अवसरवादी हैं। सभी कहते कुछ और करते कुछ है। इन्हें सीधे-सीधे समझना मुश्किल है। इनमें से कोई भी तुम्हारा साथ नहीं देगा। जनता इस बात को मानने को जरा भी तैयार नहीं है। जमाना उससे कहता है कि तुम्हारी सारी समस्याओं का समाधान इस बात में निहित है कि तुम इस बात को स्वीकार कर लो कि व्यवस्था में विसंगतियाँ-भ्रष्टाचार व्याप्त है। तुम्हारी सारी समस्याओं का समाधान तुम्हें मिल जाएगा। आज की सबसे बड़ी समस्या यही है कि अधिकांश लोग भ्रष्ट हैं और कुछ लोग भ्रष्ट नहीं हैं। जो तुम्हारी तरह भ्रष्ट होने को तैयार नहीं हैं, इसकी वजह से दो तरह की व्यवस्था यहाँ चलती दिखाई पड़ती है। जब तक सभी भ्रष्ट नहीं हो जाएंगे तब तक यह व्यवस्था चलती रहेगी। जनता किसी भी स्थिति में जमाने की बात में आना नहीं चाहती। जनता को अपनी समस्याओं का समाधान देश के महामंत्री में दिखाई पड़ता है।

जनता को इस बात का पूरा विश्वास है कि महामंत्री देश के सच्चे नेता हैं, खानदानी हैं, उनका पूरा परिवार देश की सेवा के लिए समर्पित रहा है। जनता शिकायत लेकर महामंत्री के पास अवश्य जाएगी। उसे आशा है कि उसे न्याय मिलेगा। जमाना जनता की हँसी उड़ाता है। कहता है कि दुनिया में ऐसा कौन आदमी है जिसकी असलियत मुझसे छिपी है। मैं तुम्हें इस आदमी की सही तस्वीर त्रिकालदर्शी दर्पण में अभी दिखला सकता हूँ, पर दिखाऊँगा नहीं।ताकि तुम स्वयं जान सको कि तुम जिसके प्रति इतनी श्रद्धा रखती हो अपने मन में वह क्या है और वह कितना ऊपर कितना नीचे तक फैला हुआ है। जमाने के कथन पर जनता प्रतिवाद करती है कि तुम ऐसा कह कर मुझे डराना चाहते हो जिससे मैं महामंत्री से मिलने का इरादा छोड़ दूँ। जनता महामंत्री के पास शिकायत करने के लिए राजधानी जाती है पूरे विश्वास के साथ महामंत्री के कोठी में प्रवेश करती है कि पहरेदार द्वारा रोके जाने पर भिखारन संबोधन आहत करता है। डरी सहमी जनता महामंत्री तक पहुंचती है किंतु उसकी आवाज दबा दी जाती है। जनता की शिकायत की बात लेकर महामंत्री प्रदेश मंत्री को डांटते हैं कि तुम्हारी शिकायत जनता लेकर खुद उनके पास चली आई थी। प्रदेश मंत्री द्वारा महामंत्री को बड़ी थैली भेंट कर दी जाती है।

महामंत्री खुश हो जाते हैं, मैं तुमसे बड़ा खुश हूँ।... तुम्हारा शासन काफी अच्छा चल रहा है... यदि तुम इसी प्रकार शासन करते रहे तो आगामी कई युगों तक तुम्हारा कोई बाल भी बांका नहीं कर सकता.... रही बात जनता की.... तो जनता का क्या है?.... वह तो बकबक करती ही है संविधान ने उसे बोलने की आजादी इसीलिए तो दी है कि वह बकबक करती रहे -..... और हमारा कारवां आगे बढ़ता रहे। प्रदेश मंत्री के इस कथन में व्यवस्था में व्याप्त विसंगतियों का पूरा लेखा-जोखा है। प्रशासनिक व्यवस्था के समानांतर थैली के चढ़ावे की व्यवस्था सतत गतिमान है। भ्रष्टाचार फल फूल रहा है, जनता महंगाई, कालाबाजारी एवं व्यवस्था से परेशान है।

जनता महामंत्री और भ्रष्ट व्यवस्था की शिकायत लेकर देशपाल तक जाती है। जनता को विश्वास है कि देशपाल से उसे न्याय मिलेगा। जनता और देशपाल के वातालाप से देशपाल के अधिकार और कर्तव्यों के ऊपर उपन्यासकार सवाल खड़े करता है। देशपाल चाह कर भी संवैधानिक व्यवस्था में कुछ भी नहीं कर सकता। लोकतंत्र में महामंत्री के हाथों में सभी अधिकार है। देशपाल तो मात्र रबड़ की मोहर की तरह है। देशपाल का कथन द्रष्टव्य है, जनता, अब तुमसे क्या छुपाना? मेरा सिंहासन पर बैठना या नहीं बैठना महामंत्री की मर्जी पर है। महामंत्री जिस दिन चाहे बहुमत के बल पर अपमानित कर मुझे इस सिंहासन से उतार सकता है। राज महल के बाहर निकाल सकता अथवा किसी भी ऐरे-गैरे नत्थू खैरे को सिंहासन पर बिठा सकता है। जनता, मैं बहुत बेचारा किस्म का आदमी हूँ- बिलकुल लाचार - मैं कुछ भी नहीं कर सकता -- मैं तुम्हारी कोई सहायता नहीं कर पाऊँगा। इस प्रकार जनता से देशपाल न्याय देने में अपनी असमर्थता व्यक्त करता है। वह महामंत्री के हाथ की स्वयं कठपुतली है। जैसा वह चाहेगा, वैसा उसे करना होगा। उसकी स्थिति रबर की मोहर से ज्यादा कुछ भी नहीं है।

जनता न्याय पाने के लिए उचित न्याय मंदिर के वकील से संपर्क करती है। वकील मुकदमा लेने को तैयार है किंतु उसे खर्च के लिए जनता को सात हजार देने पड़ेंगे। लेकिन अनपढ़ जनता के पास पैसे कहाँ, वकील डांट कर भगा देता है। इस प्रकार लेखक ने न्यायपालिका की विसंगतियों पर प्रहार किया है। पैसे के अभाव में न्याय के मंदिर में अपील नहीं कर सकती। इस भ्रष्ट व्यवस्था में गरीब आदमी को न्याय मिले भी तो कैसे। उसे अन्याय के खिलाफ आवाज उठाने के लिए वकील की मोटी फीस भरनी पड़ेगी जो जनता के पास नहीं है। जनता को 24 घंटे के लिए जेल भेज दिया जाता है। सदन में जनता की चर्चा-परिचर्चा होती है। विपक्षी राजनीतिक पार्टियाँ जनता का उपयोग अपनी राजनीति चमकाने के लिए करते हैं। लंबे चौड़े भाषण होते हैं। जनता का चुनाव में भरपूर उपयोग किया जाता है। अंत में जनता के ऊपर विश्वासघात का आरोप लगाया जाता है। महामंत्री के कमरे में घुसने के आरोप में जनता को जेल में बंद कर दिया जाता है। उसके साथ जेलर अमानवीय व्यवहार करता है। बार-बार उससे यही सवाल पूछा

जाता है कि किसने उसे महामंत्री के कमरे में जाने के लिए कहा था। जनता बार-बार सच कहती है, उसे किसी ने भेजा नहीं था। वह स्वयं से गई थी। महामंत्री द्वारा पूछे जाने पर कि उसने आत्महत्या का प्रयास क्यों किया। जनता कहती है, जब मेरी इज्जत ही लूट ली गई, तो अब मैं जीकर क्या करूँ?, बस, इसीलिए आत्महत्या करने जा रही थीं आप के जेलर गुंडों ने मेरे साथ बारी-बारी से इतना बलात्कार किया है कि अब मैं चलने लायक भी नहीं रही। फिर भी आप मुझसे पूछते हैं कि मैं आत्महत्या क्यों करने जा रही थी? ऐसा अब किस मुँह से पूछ रहे हैं। महामंत्री जनता को समझाते हुए रटा-रटाया जवाब देना शुरू करते हैं, यदि यह सच है.... तो मैं तुम्हें आश्वासन देता हूँ कि इस घटना की कानूनी जाँच करवाई जाएगी.... जरूर जाँच करवाई जाएगी.... इसके लिए मैं आयोग गठित करने का आदेश अभी जारी करता हूँ.... आयोग द्वारा जिन लोगों को दोषी पाया जाएगा। उनके खिलाफ कार्रवाई की जाएगी ... उन्हें कड़ी से कड़ी सजा दी जाएगी.... सजा देने में जरा भी नहीं सोचूँगा। मेरी सरकार जरा भी पीछे नहीं हटेगी.... चाहे अपराधी कोई भी क्यों ना हो। महामंत्री इस तरह की बयानबाजी और आश्वासन हमेशा देता रहा है और जनता परेशान होती रही है। किसी भी तरह की घटना दुर्घटना होने पर जाँच कमेटी गठित कर देना, जाँच आयोग बैठा देना आदि। महामंत्री जनता से कहता है कि वह उसे आत्महत्या नहीं करने देगा जनता कहती है, कमाल है, आप मेरी गरीबी दूर नहीं कर सकते... आप मेरी अशिक्षा दूर नहीं कर सकते.... आप मेरी बेकारी दूर नहीं कर सकते.... आप मुझे दो जून की रोटी नहीं दे सकते ... आप मेरा तन नहीं ढँक सकते... आप मुझे सिर छुपाने के लिए जगह नहीं दे सकते..... आप मेरी इज्जत की रक्षा भी नहीं कर सकते... फिर आप किस अधिकार से यह कह रहे हैं कि आप मुझे आत्महत्या नहीं करने देंगे। जनता जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति से वंचित है। समाज के हाशिए पर खड़े अंतिम व्यक्ति के चेहरे पर मुस्कुराहट लाने के नारे दिवास्वप्न मिथ्या हैं। दिन प्रतिदिन समस्या ग्रस्त जनता आत्महत्या करने को मजबूर है किंतु यह व्यवस्था उसे मरने भी नहीं देना चाहती और जीने देना भी नहीं चाहती। जनता चीख-चीख कर कहती है कि वह आत्महत्या कर लेगी। महामंत्री जनसेवक कहता है कि वह उसे आत्महत्या नहीं करने देगा। महामंत्री कहता है कि तुम्हारा जीना जरूरी है तो जनता महामंत्री के कथन पर व्यंग्य करती है, ताकि जनतंत्र चलता रहे। उपन्यासकार पूरी लोकतांत्रिक व्यवस्था के ऊपर जबरदस्त प्रहार करता है, तुम मर जाओगी तो यह जनतंत्र कैसे चलेगा? जनतंत्र को जारी रखने के लिए जन का होना निहायत जरूरी है। यानी तुम्हारा जीना बहुत आवश्यक है। जनता कहती है कि उसने बहुत जनतंत्र देख लिया उसे किसी भी तरीके का जनतंत्र नहीं चाहिए। महामंत्री कहता है कि तुम्हें जनतंत्र चाहिए या नहीं चाहिए लेकिन मुझे तो जनतंत्र चाहिए और जनतंत्र के लिए जनता का रहना जरूरी है। यानी तुम्हें जनतंत्र के लिए रहना होगा। तुम आत्महत्या नहीं कर सकती।

अंत में जनता निर्णय लेती है कि उसे आत्महत्या नहीं करनी है बल्कि जनतंत्र के नाम पर हो रहे नाटक का वह पदार्पाश करेगी। लोगों के सामने इस बात को ले आकर रखेगी की इस जनतंत्र का नायक कौन है? और खलनायक कौन है? जनतांत्रिक व्यवस्था के खलनायक के चेहरे से नकाब उतारने के लिए जनता निर्णय लेती है कि अब वह आत्महत्या नहीं करेगी बल्कि समय का जो दर्पण है उसमें वह अपने समय के यथार्थ चित्र को ले आकर सामने रखेगी। वर्तमान जनतंत्र जन की रक्षा करने में पूर्ण असमर्थ है। वर्तमान लोकतांत्रिक व्यवस्था में जन की हत्या करने के लिए पूरा का पूरा व्यवस्था तंत्र लगा हुआ है। आम आदमी अपने मन से न जीने पा रहा है और न ही मरने पा रहा है। दर्पण झूठ न बोले उपन्यास आजाद भारत के प्रजातांत्रिक व्यवस्था का लेखा-जोखा है। जिसके आईने में वर्तमान समय को देखा जा सकता है विगत सात दशकों के दौरान कमोवेश यही घटना दोहराई जाती रही है। राजनीतिक पार्टियाँ सत्ता में आती हैं किंतु तंत्र अपना काम वैसे ही करता रहता है। जन का गला घुटता रहता है।

एसोसिएट प्रोफेसर
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
महर्षि दयानंद कॉलेज परेल, मुंबई-400012
■ ■ ■

क्या आपके भीतर भी छिपा है कोई 'आदमखोर'

डॉ. महेश दवंगे

'बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय।
जे दिल खोजा आपना, मुझसे बुरा न कोय।'

भक्तिकालीन कवि कबीर का उपर्युक्त दोहा सार्वकालिक सच को अभिव्यक्त करता है। बुराई की जड़ें समाज में नहीं व्यक्ति के भीतर होती हैं। अतः समाज का गुणात्मक विकास व्यक्ति के आंतरिक गुणों पर निर्भर करता है। साहित्य ने हमेशा ही मनुष्य के इसी विकास में सहयोग दिया है। वैसे, मनुष्य की वर्तमान समय तक की यात्रा संघर्षमय रही है। यह संघर्ष अच्छाई और बुराई के बीच का रहा है। जब भी मनुष्य ने मानवीय एवं नैतिक मूल्यों का दामन छोड़ा है, उसी समय उसके हृदय में बुराईयों का बीजारोपण हुआ है। इस स्थिति में मनुष्य स्वार्थी एवं लालची बन जाता है। अपने लक्ष्य पूर्ति के लिए वह मनुष्यता की सारी हदें तोड़ देता है। त्याग, सेवा, समर्पण जैसे मूल्य कागजी ख्यालात बन जाते हैं। ऐसे मनुष्य उस भेड़िये के समान होते हैं, जिनका एकमात्र लक्ष्य होता है, शिकार को दबोचना। यहीं से व्यक्ति के भीतर जन्म होता है एक 'आदमखोर' का। आदमखोर एक प्रवृत्ति है। वर्तमान समय में कोई भी इससे सुरक्षित नहीं है। ये कभी भी आपको दबोच सकता है। बलात्कार, खून-खराबा, डराना-धमकाना, दंगे-फसाद कराना आदि इसके हथियार हैं। मनुष्यता एवं जीवन मूल्यों को कुचलना इसका धर्म है। आधुनिक युग में लगभग सभी के भीतर इस प्रवृत्ति ने जन्म लिया है। अतः आवश्यकता है अपने भीतर झाँकने की। उस बुराई को जड़ से मिटाने की, जिसने समाज में कई समस्याओं का निर्माण किया है। 'आदमखोर' यह उपन्यास भी हमें आत्म की ओर ढकेलता है और सोचने के लिए विवश करता है।

'आदमखोर' उपन्यास श्रवणकुमार गोस्वामी की चर्चित कृति है। इसमें सन् 1945 से सन् 1990 तक की बदलती भारतीय जीवन पद्धति वर्णित है। यह भारतीय आजादी की प्रारंभिक अवस्था है। यह वह समय है जब स्वाधीनता आंदोलन से प्राप्त स्वराज्य में भारतीय लोगों ने पहला कदम रखा था, किंतु आजादी का जश्न दंगे फसाद में लुहू-लुहान हो जाता है। आजादी की लड़ाई मिलकर लड़ने वाले हिंदू-मुसलमान भाई एक-दूसरे पर

टूट पड़ते हैं। ऐसे रक्त-रंगीन माहौल में ही आजादी का सूरज उगता है। धीरे-धीरे घाव भरने लगते हैं इसी के साथ गाँवों और देहातों में एक साझी संस्कृति जन्म लेती है। यहाँ सारे भेद और भ्रम टूट जाते हैं। दिलों की तपन ठंडी हो जाती है और भारतीय सभ्यता और संस्कृति की नयी पीढ़ी जन्म लेती है। उपन्यास में वर्णित 'इमली टोली' गाँव के पाठकों को नयी संस्कृति से परिचित कराती है। यह वह दौर था जब गाँवों में भारत की आत्मा बसती थी। यहाँ सब कुछ था मगर नहीं थी बेईमानी और लाचारी। मजहबी दीवारें आपसी प्रेम में खंडहर हो गई थीं। गरीबी और तंगहाली में भी लोग सुख-शांति से जी रहे थे। हिंदू-मुस्लिम एक ही गली-मुहल्ले में रहते थे और हर तीज-त्यौहार मिलकर मनाते थे। लेखक ने गाँव की खूबसूरती को शब्दों की खूबसूरती से सजाया है। उपन्यास का आरंभिक अंश 'मैला आँचल' की याद दिलाता है। लेखक ने गाँव की मिट्टी की महक को उपन्यास में पिरोया है। यह अंश पढ़कर हर कोई अपने गाँव लौट जाता है। 'मगर मुझे लौटा दो बचपन का सावन, वो कागज की कश्ती, वो बारीश का पानी' सुदर्शन फाकीर भी बचपन की यादों का आशियाना गजल में ढूँढते हैं। यही वजह है कि इस उपन्यास के चरित्र अब्बास अली, शिबू भगत, भगताइन, नूरजहाँ आदि अपनी जाति या धर्मगत पहचान नहीं बनाते। उनका कर्म ही उनकी पहचान होती है। महत्वाकांक्षा, लालच, ईर्ष्या से परे सहजता ही उनके जीवन को मजबूती देती है। अब्बास अली जाति से मुसलमान है, किंतु उसका पेशा है रद्दी खरीदना और बेचना। अतः इमली टोली में अब्बास अली एक रद्दीवाला है, यही उसकी पहचान है। इमली टोली के सुखी जीवन का यही राज है - "अब्बास अली की गृहस्थी की गाड़ी बस इसी तरह जैसे-तैसे चल रही थी। उसके मन में न तो कोई महत्वाकांक्षा थी और न उसे पूरा करने की ललक। सच तो यह है कि इमली टोली के हर घर का यही हाल था। सभी एक तरह से संतुष्ट से लगते थे। यही कारण था कि इमली टोली की जिंदगी एक निश्चित ढर्रे पर चल रही थी।" दरअसल इमली टोली ही नहीं भारत के हर गाँव की यही कहानी है। मेहनत से कमायी रूखी-सूखी रोटी आदमी का पेट और मन दोनों भर देती है। अतः गाँवों की संस्कृति मेहनत, मजबूरी की होती है, छल-कपट की नहीं।

आजादी के बाद गाँवों की तस्वीर बदलने लगती है। गाँव और गाँव के लोग महानगर की चपेट में आ जाते हैं। आधुनिक चकाचौंध में गाँवों की संस्कृति धुंधली पड़ती है और मजहबी दीवारें खंडहर से मूर्त रूप में आ जाती है। उपन्यास का चरित्र अब्बास अली हिंदू लड़की सोनिया से ब्याह रचाता है। वह सोनिया के पिता को सौ रूपए देकर सोनिया को खरीदता है। इस अंतर्धर्मीय विवाह से इमली टोली में सांप्रदायिक तनाव उत्पन्न नहीं होता बल्कि सोनिया इमली टोली की बहू बन जाती है। मौलवी साहब उसका नाम बदलकर नूरजहाँ रखते हैं। इस समय तक धार्मिक पहचान करानेवाली कोई तस्वीर अब्बास अली की झोपड़ी में मौजूद नहीं थी और न ही नूरजहाँ पर अन्य धर्म को

अपनाने का बंधन। किंतु धीरे-धीरे अब्बास सांप्रदायिक कट्टरता की चपेट में आ जाता है जैसे, “सबसे पहले वह अपने को एक रद्दीवाला मानता था। रद्दी खरीदना और बेचना ही उसका मजहब था और पेशा भी। लेकिन अब अब्बास मजहब का मतलब समझने लगा था और उसकी नजर में मजहब का सबसे ऊँचा मुकाम था। पहले इमली टोली के लोग उसके लिए अपने थे लेकिन अब मुहल्ले के लोगों को वह हिंदू और मुसलमान दो वर्गों में बाँटकर देखना सीख चुका था।”² अब्बास अली का यह बदला रूप भारतीय संविधान की बुनियाद ‘धर्मनिरपेक्षता’ की जड़ें हिलाता है। दरअसल भारतीय भूमि में रहनेवाला हर व्यक्ति भारतीय है, यही उसकी सही पहचान है। हम आज तक इस पहचान को बनाने में नाकाम रहे हैं। वर्तमान समय में जाति और धार्मिक कट्टरता ने लोगों को टुकड़ों-टुकड़ों में बाँट दिया है। हमारे सारे आदर्श चरित्रों को विशेष जाति व समूह में जकड़ दिया है। आज दूर-दूर तक इस प्रवृत्ति का अंत दिखाई नहीं देता। धार्मिक उन्माद से विवेक खत्म हो जाता है। कोई भी समाज विवेक और वैज्ञानिकता को खोकर विकास नहीं कर पाता। अब्बास अली भी अपनी विवेकहीनता से दूसरा ब्याह रचाता है और पत्नी नूरजहाँ को तलाक देता है।

हिंदी साहित्य में कई रचनाकारों ने अजरामर चरित्र दिए हैं। होरी (गोदान-प्रेमचंद), टोपी शुक्ला (टोपी शुक्ला-राही मासूम रजा), महरूख (ठीकरे की मंगनी-नासिरा शर्मा) आदि। यह चरित्र मनुष्य की संघर्षशीलता के प्रतीक हैं। प्रस्तुत उपन्यास में नूरजहाँ और बेंगा मिस्त्री इसी अजरामर चरित्रों की परंपरा में शामिल हैं। नूरजहाँ अपने आत्मसम्मान की रक्षा करते हुए पति अब्बास का घर त्यागती है। वह अपने बेटे बेंगा के साथ मिलकर जिंदगी से दो हाथ करती है। इस संघर्ष में शिबू भगत, भगताइन, बनर्जी बाबू एवं शुभा मैम उन्हें सहयोग करते हैं। बेंगा का बचपन आर्थिक अभाव एवं तंगहाली में ही बीतता है। उसे कच्ची उम्र में गैरेज में भी काम करना पड़ता है। बढ़ती उम्र के साथ बेंगा का जज्बा भी बढ़ता है। इसी बीच बनर्जी बाबू बेंगा के अठारह वर्ष पूर्ण होते ही कानपुर की नवभारत मिल में बिजली मिस्त्री के रूप में काम पर लगाते हैं। इसी मिल में चौबीस-पच्चीस वर्ष काम करते हुए कुशल बिजली मिस्त्री के रूप में बेंगा अपनी पहचान बनाता है। अब उसके संग भरा-पूरा परिवार है। माँ (नूरजहाँ), पत्नी (फातिमा), बेटा (शकिला) और बेटा (सत्तार) उसकी जीवन यात्रा के सहचर हैं। किंतु जीवन रूपी नदी इतनी असाानी से कहाँ सागर से मिल पाती है। कई अवरोध नदी के बहाव को रोकते हैं। बेंगा के जीवन में भी कई समस्याएँ आती हैं। वर्तमान समय में ‘जिसकी लाठी उसकी भैंस’ वाली स्थिति है क्योंकि मनुष्य के भीतर कई विघातक प्रवृत्तियों ने जन्म लिया है। यही वजह है कि गाँवों से गंदगी मिट गई किंतु लोगों के दिलों में मैल जम गया है।

आजादी के बाद भारतीय समाज के सम्मुख कई चुनौतियाँ थीं। गरीबी, अशिक्षा, बीमारी, भूखमरी आदि को जड़ से मिटाना आवश्यक था। अतः तत्कालीन

सरकार की तरफ से कई योजनाएँ चलाई गयीं, जिससे धीरे-धीरे समस्याओं की तीव्रता कम होने लगी। शिक्षा अर्जित करने वाले युवाओं की फौज धीरे-धीरे बढ़ने लगी और उनका पहला साक्षात्कार बेरोजगारी से ही हुआ। बेंगा का बेटा सत्तार भी इसी भीड़ का हिस्सा बन जाता है। उसने बी.कॉम की परीक्षा उत्तीर्ण की है और पिछले दो वर्षों से नौकरी की तलाश में है। दरअसल यह स्थितियाँ मनुष्य की स्वार्थी प्रवृत्ति ने ही निर्माण की हैं। आज भी बिना रिश्वत नौकरी पाना असंभव-सा हो गया है। पद के अनुसार राशि तय हो गई है। यह 'खुला रहस्य' है फिर भी सभी इस पर चुप्पी साधे हैं। सत्तार भी इस दुनियादारी को जल्द ही समझता है। जैसे, "अब उसने यह अच्छी तरह जान लिया है कि नौकरी पाने के लिए डिग्री से ज्यादा जरूरी और भी बहुत सारी चीजें हैं, जो उसके पास नहीं हैं।"³ आज कागजी डिग्री का उतना महत्व नहीं है जितना कागजी नोटों का। सत्तार के पास डिग्री है, किंतु रिश्वत देने के लिए 20 हजार रुपए नहीं हैं। वर्तमान समय में भी बेरोजगारी विकराल रूप धारण कर चुकी है। प्रतिवर्ष इसमें इजाफा ही हो रहा है। विश्व बैंक की रिपोर्ट 'जॉबलेस ग्रोथ' ने अनुमान लगाया है कि "भारत में 2018 और 2019 में बेरोजगारी में इजाफा होगा। उसके अनुसार भारत में रोजगारी की दर तेजी से गिर रही है और इसके मौजूदा स्तर को बनाए रखने के लिए देश को सालाना 81 लाख रोजगार पैदा करने पड़ेंगे।"⁴ यह वर्तमान भारत की सच्ची तस्वीर है। रोजगार के अभाव में कई युवा गलत रास्तों को अपना रहे हैं। दुख इस बात का है कि काबिलियत होने के बावजूद कई युवा व्यवस्था से बाहर है।

भारतीय समाज में स्त्री को शक्तिरूपिणी माना गया है। उसके कई रूपों की पूजा की जाती है। लेकिन किसी घर में बेटी का जन्म होता है तो मातम-सी स्थिति छा जाती है। बेटी बोझ का विकल्प-सा बन गयी है क्योंकि बेटी के जन्मते ही पिता के सम्मुख दहेज रूपी राक्षस खड़ा हो जाता है। वैसे, दहेज लेना या देना कानूनन जुर्म है, किंतु प्रतिष्ठा के झूठे मानदंडों के लिए कई पिता आजीवन कर्ज तले डूब जाते हैं। बेंगा मिस्त्री भी अपनी बेटी शकीला के लिए दूल्हे की खोज में है। उन्हें दिल्ली का लड़का 'कमर भाई' पसंद आता है। लेकिन उसके पिता 'बदर भाई' की इच्छाएँ कम से कम पचास हजार रुपए खर्च की माँग करती हैं। बेंगा मिस्त्री पैसे जुटाने के लिए जी तोड़ मेहनत करता है। लेकिन इतनी बड़ी राशि वह नहीं जुटा पाता। उसके जीवन के दो ही लक्ष्य हैं- बेटे की नौकरी और बेटी की शादी। लेकिन पैसे की तंगहाली बेंगा मिस्त्री को भीतर से तोड़ती है। दरअसल यह बेंगा मिस्त्री की ही नहीं हर उस पिता की व्यथा है, जो आजीवन संघर्ष के बावजूद अपने बच्चों के सपनों को पूरा नहीं कर पाते। पिता मेहनत से कभी परहेज नहीं करते। किंतु व्यवस्था के भीतर ऐसे लोगों की तादाद बढ़ी है जो शादी-ब्याह के नाम पर अपने ही बेटे का सौदा करने लगे हैं। प्रतिष्ठा के नाम पर धिनौना रिवाज समाज में चल पड़ा है। लड़की का बाप इस तरह लाचार होता है मानो लड़की को जन्म देकर उसने

कोई गुनाह किया है। बेंगा मिस्त्री की भी यही स्थिति होती है।

प्रस्तुत उपन्यास की सबसे बड़ी खूबी है भाषा की सहजता एवं कथाकथन शैली। 'आदमखोर' शीर्षक भी आकर्षक है। उपन्यास का शीर्षक प्रेमचंद पूर्व युगीन उपन्यासों की याद दिलाता है। चंद्रकांता, चंद्रकांता संतति, जासूस पर जासूसी आदि उपन्यासों में पाठक को पकड़ के रखने की अदभुत क्षमता थी। लेखक श्रवणकुमार गोस्वामी का यह उपन्यास भी पाठक के मन पर अमिट छाप छोड़ता है। आगे क्या होगा? यह प्रश्न निरंतर पाठक को कचोटता है और पाठक उपन्यास की दुनिया में खो जाता है। उपन्यास की कथा में कई मोड़ आते हैं। कथा में रोचकता एवं भयावहता तब आती है जब बेंगा मिस्त्री के जीवन में नजीर खाँ की दखलअंदाजी शुरू होती है। नजीर खाँ अपने इलाके में नेताजी के नाम से मशहूर है। लोगों के मन, मस्तिष्क पर उसका आतंक है। नवभारत मिल्स में सामान्य खलासी के रूप में वह आया था किंतु अपनी अशिष्टता एवं उदंडता से जल्द ही वह यूनियन का अध्यक्ष बन गया। अब तो कई गुंडे उसकी सुरक्षा के लिए तैनात हो गए हैं। यही वजह है कि कानपुर शहर में भी नेताजी की धाक बैठ गयी है। इसी नेताजी की नजर बेंगा मिस्त्री की लड़की शकीला पर पड़ती है। शकीला को पाने की अदम्य इच्छा उसके मन में उत्पन्न होती है। नजीर खाँ की उम्र बेंगा मिस्त्री से भी अधिक है। वैसे भी उसके घर में तीन बीबियाँ पहले से मौजूद हैं। बावजूद अपनी बेटी से भी कम उम्र की शकीला से ब्याह रचाने की उसकी कोशिश शुरू होती है। सामंती मानसिकता का नजीर खाँ शकीला को पाने के लिए निरंतर जाल बिछाता रहता है। दरअसल नजीर खाँ के भीतर की मनुष्यता, मानवीयता, सहृदयता कब की मर चुकी है। अब उसके हृदय में जीवित है एक 'आदमखोर'। यही आदमखोर बेंगा मिस्त्री को शकीला की खुशहाल जिंदगी एवं सत्तार की नौकरी की दुहाई देता है। बेंगा मिस्त्री द्वारा प्रस्ताव नकारने पर पालतू गुंडों द्वारा उसे डराया-धमकाया जाता है। बेंगा मिस्त्री के जीवन में नजीर खाँ के रूप में नयी समस्या उत्पन्न होती है।

जीवन का अर्थ होता है संघर्ष। सुख और दुख। लेकिन बेंगा मिस्त्री के जीवन की कथा दुख से आगे बढ़ती ही नहीं। सुख माने कोई कल्पित शब्द है, जिसका असली जिंदगी से कोई सरोकार नहीं है। संघर्ष भी अंतहीन है। जीवन की भागदौड़ में कुछ क्षण बैठने के लिए भी छाँव नहीं है। बेंगा मिस्त्री की जिंदगी बिना पतवार की नाँव है, जिसे कब किनारा मिले पता नहीं। उनकी दिशाहीन रास्तों पर बेतहाशा दौड़ शुरू है और परिवार की खुशियों का बोझ कंधों पर है। अब रुकना आसान नहीं। बेंगा मिस्त्री भी लड़खड़ाते ही सही अपने बेटी को नजीर खाँ के चंगुल से छुड़ाने की कोशिश में है, किंतु यह तभी संभव है, जब उसकी शादी किसी अन्य से हो और किसी अन्य से शादी तभी संभव है जब उसके पास 50 हजार की राशि हो। किंतु यह सभी असंभव-सा है। फिर भी उसकी भरसक कोशिश जारी है। बेंगा मिस्त्री की लड़ाई जितनी बाहरी तत्वों से हैं उससे अधिक

अपने आप से है। शायद यह उसकी नाकामी है, जिससे उनके परिवार की खुशी खत्म हुई है। बेंगा मिस्त्री के सामने के सारे रास्ते बंद हो जाते हैं। वे सोचते हैं, “पिछले कई वर्षों की भागदौड़ ने उसे बता दिया था कि शकीला की शादी कोई आसान काम नहीं। उसी तरह सत्तार की नौकरी भी एक कठिन समस्या थी। यह दोनों ही काम आसानी से हो सकते थे अगर बेंगा के पास रुपए होते। लेकिन एक बिजली मिस्त्री के पास इतने रुपए आते कहाँ से, जिनसे वह अपने बेटे के लिए नौकरी और बेटी के लिए लायक दूल्हा खरीद पाता।”⁴ दरअसल किसी सामान्य व्यक्ति के लिए इतनी बड़ी राशि जुटाना मुश्किल है। वैसे भी नौकरी और दूल्हे के लिए रुपयों की आवश्यकता है ही नहीं, किंतु सभ्य समाज ने अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए इसे व्यवहार में बदल दिया है। प्रतिष्ठा के इन झूठे मानदंडों ने ही बेटी को बोझ बना दिया है। बेंगा मिस्त्री के लिए बेटी बोझ नहीं हैं, किंतु उसकी खुशी के लिए वह कोई भी कीमत चुकाने के लिए तैयार है।

इस उपन्यास में बेंगा मिस्त्री के रूप में आदर्श पिता का चरित्र उद्घाटित हुआ है। साहित्य संसार में ‘माँ’ पर सर्वाधिक लिखा गया है, इसमें पिता के चरित्र की क्षतिपूर्ति हुई है। यह वह बाप है, जो अपने बच्चों की लंबी उम्र के लिए खुद का बलिदान करता है। हाँ बलिदान ही...। बेंगा मिस्त्री भी समझ जाता है शायद जो काम वह जीते जी नहीं पूरा कर सका वह मरणोपरांत संभव है। क्योंकि हमारे यहाँ जीने के लिए खाना भले ही नसीब न हो, मरने के बाद कफन मिल ही जाता है। यह समाज की वास्तविकता है। अब बेंगा मिस्त्री के भीतर आत्महत्या का विचार जन्म लेता है। क्या यह आत्महत्या संघर्ष से पलायन है? या नए रास्ते की खोज? दरअसल बेंगा को अपनी मृत्यु से परिवार की खुशियों का ताला खुलता हुआ नजर आता है, क्योंकि उनकी मृत्यु के बाद उनकी जगह सत्तार की नौकरी लग जाएगी। साथ ही मिल का प्रोविडेंट फंड, ग्रॅच्युटी एवं बीमा कंपनी आदि से कुल मिलाकर पचास हजार से अधिक रुपए परिवार को मिलेंगे, जिससे शकीला की शादी दिल्लीवाले लड़के से हो जाएगी। जो काम जीते जी संभव नहीं वह मरणोपरांत संभव होगा। बेंगा मिस्त्री मृत्यु के पूर्व एक दिन सालगिरह का आयोजन कर परिवार को खुशियों से नहला देता है। पत्नी फातिमा से शरारत करता है। परिवार के सभी सदस्यों को अपने हाथ से खिलाता है जैसे बेंगा मिस्त्री की बिदाई समीप आ रही हो। परिवार आश्चर्य में है, जबकि बेंगा मिस्त्री का ध्येय निश्चित। बेटे को हिदायते देते हैं अगले दिन जल्दी आने की ताकि परिवार की भागदौड़ न हो। अगले दिन बेंगा मिस्त्री अपने ही मिल के मीनार पर लगे बल्ब को ठीक करने पचास फिट उँचाई को नापता है। जिस काम ने पहचान दिलायी थी उसी कार्य के अंत के साथ वह अपने शरीर को सौंप देता है, हवा में तैरने के लिए। शायद कुछ पलों के लिए बेंगा ने उन सपनों को साकार रूप में देखा होगा। सत्तार की नौकरी, शकीला की शादी, माँ और पत्नी के चेहरे पर रौनक। क्या शरीर जमीं को छूने से पहले बेंगा के चेहरे पर हल्की सी मुस्कान आयी

होगी? लेकिन धपाक की आवाज के साथ ही सभी प्रश्नों के उत्तर बेंगा की अबोल आत्मा में समा गए। क्या कहे इसे आत्महत्या? या व्यवस्था द्वारा की गयी हत्या? यह प्रश्न सदियों से अनुत्तरित है। बेंगा मिस्त्री का अंत एक संघर्ष का अंत है क्योंकि जन्म से लेकर मृत्यु तक अग्नि रूपी पथ पर बिना थके, बिना हारे वह लड़ता रहा। घने अंधेरे में टिमटिमाते दिये की तरह वह जलता रहा। अंधियारा मिटा नहीं किंतु परिवार के लिए अपने बलिदान से रोशनी भरा रास्ता तैयार किया। मृत्यु से पूर्व अपने बेटे सत्तार के लिए लिखे खत में बेंगा अपने जीवन की व्यथा-कथा अभिव्यक्त करता है। दिल में संजोये सपनों का अधूरापन बेंगा को चोट करता है। अब इन सपनों को पूरा करने का दायित्व सत्तार का है। बेंगा खत में लिखते हैं, ‘‘बेटा, दुनिया में हर चीज की एक कीमत होती है कुछ पाने के लिए कुछ खोना पड़ता है। तुम्हारी नौकरी और शकीला का दूल्हा खरीदने के लिए जीते जी मैं कुछ नहीं कर सका। मेरे सामने यह भी जाहिर हो गया कि मैं जिंदा रहकर ये दोनों काम कभी पूरा नहीं कर पाऊंगा। इसलिए मैंने यह तय किया है कि अगर मेरी कुबार्नी से ये दोनों काम पूरे होते हैं तो जिंदा रहने से बेहतर तो मर जाना ही है।’’^६ दरअसल ये कोई पहली मृत्यु नहीं है। वर्तमान में यह रोज की तस्वीर हो गयी है। आजादी से पहले होरी, आजादी के बाद बेंगा मिस्त्री और अब भारतीय किसान एक ही रास्ते के हमराही हैं। प्रतिवर्ष किसानों की आत्महत्याओं में इजाफा ही हो रहा है। व्यवस्था में बैठे स्वार्थांध अधिकारी एवं तथा कथित समाज की सड़ी-गली परंपराओं ने मनुष्य को मरने के लिए मजबूर किया है।

बेंगा मिस्त्री की मृत्यु से परिवार एवं समाज में हाहाकार मचता है। परिवार में मातम-सी स्थिति है तो बेंगा के चाहने वाले गहरे सदमे में। वैसे, भारत में असल में ‘मरण’ मृत्यु के बाद शुरू होता है। दवा, अस्पताल या दवाओं के लिए भले ही पैसे न हों मृत्युभोज के लिए कर्ज लेकर पैसे जुटाने पड़ते हैं। बेंगा मिस्त्री के सपने भी इतनी आसानी से कैसे पूर्ण होते क्योंकि नजीर खाँ जैसे अवसरवादी लोग मातम में भी अवसर खोजते हैं। बेंगा के संपूर्ण क्रियाकर्म में अब वे पारिवारिक सदस्य की तरह सहयोग देते हैं और अंत में अपनी माँग पर आ जाते हैं। अब तो उनकी इच्छा अधिक प्रबल हो उठती है। अब शकीला के साथ ही फातिमा (शकीला की माँ) को पाने की चाहत भी मन में जाग उठती है। नजीर खाँ, बेंगा मिस्त्री के पत्र को पुलिस को देने की धमकी देता है क्योंकि यह पत्र पुलिस को मिला तो ना ही सत्तार को नौकरी मिलेगी और ना ही बीमा कंपनी से पैसे। मतलब ना ही शकीला की शादी। दरअसल नजीर खाँ जैसे आदमखोर मानवीयता के दुश्मन हैं। उनके भीतर का जमीर मर चुका है। अपनी प्यास मिटाने के लिए वे मनुष्य का खून भी बहाते हैं। ऐसे आदमखोर हर जगह मौजूद हैं। ये दिखते हैं मनुष्य की तरह किंतु इनके भीतर संवेदना नहीं होती। वर्तमान में स्थित सभी समस्याओं की जड़ में इन्हीं आदमखोरों की इच्छाएँ पल रही हैं।

दरअसल 'आदमखोर' उपन्यास मनुष्य की स्वार्थांध प्रवृत्ति पर चोट करता है। मनुष्य ने अपनी स्वार्थसिद्धि एवं महत्वाकांक्षाओं के लिए मानवीय मूल्यों को कुचल दिया है। मनुष्य की जीवन से आस्था मिटने लगी है क्योंकि हर एक के भीतर यह प्रवृत्ति जन्म ले रही है। वर्तमान समय में हर दिन भाई-भाई, पति-पत्नी, बाप-बेटे में युद्ध छिड़ रहा है। पारिवारिक संकल्पना खतरों में है और परिवार कलह के केंद्र बन रहे हैं। हर रिश्ते को अविश्वास की नजर लगने लगी है। एक संघ समाज भी जाति, धर्म, वर्ण, कर्म, भाषा, प्रांत आदि में विभाजित होने लगा है। हर दिन इनमें से किसी-न-किसी विषय पर दो समाज लड़ रहे हैं। समाज में अशांति फैल रही है और इसे विशिष्ट लोगों द्वारा बढ़ावा दिया जा रहा है। लेखक ने इसी व्यथा को अपनी कथा का आधार बनाया है। यही वजह है लेखक हमें भी अपने भीतर झाँकने के लिए मजबूर करता है क्योंकि हमारे भीतर का 'आदमखोर' जब तक नहीं मरेगा तब तक सामाजिक विकास संभव नहीं। आज हमारे सामने कई समस्याएँ एवं चुनौतियाँ हैं। इनसे हमें जूझना है। हमें अपने सामाजिक दायित्व को निभाना है और यह तभी संभव है जब हमारे हृदय में मानवीय गुणों का विकास हो। इस उपन्यास के माध्यम से लेखक हमसे यही प्रश्न करते हैं- क्या आपके भीतर भी छिपा है कोई 'आदमखोर'।

संदर्भ संकेत :

1. आदमखोर, श्रवणकुमार गोस्वामी, पृ. 16
2. वहीं, पृ. 65
3. वहीं, पृ.113
4. समयांतर, अगस्त 2018, पृ.10
5. आदमखोर, श्रवणकुमार गोस्वामी, पृ.190
6. वहीं, पृ. 205

सहायक प्राध्यापक,
सावित्रीबाई फुले
पुणे विश्वविद्यालय,
पुणे-411007.



दरकते रिश्तों के बीच-सेतु

डॉ. मिथिलेश शर्मा

‘सेतु’ श्रवण कुमार गोस्वामी जी का दूसरा उपन्यास है। इस उपन्यास को पढ़ कर ऐसा लगता है कि गोस्वामी जी ने सिनेमा जगत को बहुत करीब से देखा और महसूस किया। इस उपन्यास के प्रमुख दो पात्र हैं, अमर और रचना। ये दोनों पात्र फिल्मी दुनिया के अभिनेता-अभिनेत्री हैं। यह उपन्यास अपने संवादों के माध्यम से फिल्म जैसी ही अनुभूति प्रदान करता है। उपन्यास को पढ़कर हमें ऐसा लगता है कि यह अन्य फिल्मी हस्तियों के जीवन से जुड़ा होगा पर ऐसा नहीं है। इस उपन्यास की पृष्ठभूमि कतई फिल्मी नगरी नहीं है फिर भी इसके नायक-नायिका फिल्म में काम करने वाले अभिनेता अभिनेत्री हैं। इसकी कथा भूमि पूर्णतः दंपत्य जीवन पर आधारित है। उपन्यास की कथा कुछ इस प्रकार है- अमर फिल्मों का सफल अभिनेता है, लड़कियाँ इस पर मरती-मिटती हैं। ४५ वर्ष का अमर अभी तक अविवाहित है। अमर और उसकी प्रथम प्रेमिका ‘रूपसी’ की फिल्मों में हिट जोड़ी थी। दर्जनों फिल्मों दोनों ने साथ में की थीं। अनेक पत्र-पत्रिकाओं में उनके रोमांस के चर्चे छपते थे, लोग उनकी जोड़ी की खूब सराहना करते थे। ‘दोनों ने मुक्त अभिनय का ऐसा उदाहरण पेश किया कि लोग यह विश्वास करने लगे कि इन दोनों का विवाह निश्चित है।’ (सेतु- पृष्ठ-१५) तभी ‘रूपसी’ ने एक विदेशी उद्योगपति के इकलौते बेटे से विवाह कर लिया इसका पूवार्भास अमर को भी नहीं था। ‘अमर’ को इस घटना ने कुछ समय के लिए असंतुलित कर दिया और यहाँ तक की अमर ने एक वर्ष के लिए फिल्मों से संन्यास ले लिया। एक वर्ष पश्चात अपने आप को संभालते हुए उसने फिल्मों में काम शुरू किया। तभी, उसने निश्चय कर लिया कि वह किसी से विवाह नहीं करेगा। इस घटना के दस वर्ष बाद भी अमर के लिए खूब रिश्ते आए पर अमर ने उनकी तरफ ध्यान नहीं दिया। उस समय अमर की उम्र करीब ४०-४२ की रही होगी। अब पत्र-पत्रिकाओं ने अमर के विवाह की ‘अटकलबाजियाँ’ और रोमांटिक कथाओं का प्रकाशन भी स्थगित कर दिया था। अमर के बारे में लोगों का ऐसा विश्वास हो गया कि ‘अब वह कभी विवाह नहीं करेगा।’ पर, रचना को समीप से देखने पर अमर के मन में पुनः वह भावना जागी जिसे उसने कभी बड़ी निष्ठा से दबा दिया था।

अमर रचना से पच्चीस वर्ष बड़ा है। दोनों ही फिल्मी जगत से जुड़े हैं। अमर ४५

वर्ष का होने के बावजूद फिल्मों का सफल नायक है। रचना बीस वर्ष की है, अभी-अभी उसका 'फिल्मी कैरियर' अमर की नायिका के रूप में शुरू हुआ है। दोनों एक दूसरे के समीप आते हैं पर अभी तक रचना एक सफल अभिनेता के रूप में उसका आदर करती है। अमर उसके अभिनय की खूब तारीफ करता है तो रचना कहती है, 'आपकी बातों को मैं आशीर्वाद स्वरूप ग्रहण करती हूँ।' (सेतु पृ-७)

इसके बाद अमर लगातार रचना के पिता प्रोफेसर मनमोहन जी से बातें करना शुरू कर देता है तब प्रोफेसर साहब को भी कहीं ऐसा अनुभव होता है कि अमर के मन में रचना के प्रति प्रेम या उससे विवाह का विचार तो नहीं है। प्रोफेसर साहब भी 'फिल्म नगरी' के ऊँच-नीच से भली-भाँति परिचित थे। उन्हें मालूम था कि रचना उस 'फिल्मी गगन तारिका' में अपना स्थान किसी की छत्र-छाया में बिना किसी रुकावट के तभी बना सकती है जब अमर जैसा साथी उसके जीवन में आ जाए। ऐसा कदापि नहीं है कि प्रोफेसर साहब को उनकी उम्र के अंतराल का अंदाजा नहीं था। रचना द्वारा पूछे जाने पर वह कहते हैं कि, 'तुमने ठीक ही पूछा है। मुझे भी डर था कि मेरे सोचने के ढंग पर तुम्हें आश्चर्य होगा। परंतु तुम्हारे भविष्य को ध्यान में रखकर ही मैंने ऐसा सोचा है। मुझे गलत मत समझना।' (सेतु, पृष्ठ-१२)

रचना ने अपने पिता के प्रस्ताव पर और 'फिल्म इंडस्ट्री' के बारे में खूब विचार किया। जहाँ, कदम-कदम पर निर्माता भूखे भेड़िए बने बैठे हों वहाँ बिना किसी सहारे के अपनी मंजिल तय करना कठिन ही नहीं नामुमकिन है। वह अपने आप से प्रश्न करती है, 'पर, तू यह भी सोच ले कि क्या अकेले तू फिल्म में आगे बढ़ सकती है... यहाँ तो सभी वासना के कीड़े हैं... लोग पहले शरीर की बात करते हैं, फिर अभिनय की...' (सेतु-पृ-१३) रचना की सहमति के बाद जब प्रोफेसर साहब ने अमर से इस विवाह के लिए कहा तो अमर ने एक शर्त रख दी कि 'रचना को विवाह के बाद अभिनय छोड़ना होगा' क्योंकि, अमर फिल्मी दुनिया की चकाचौंध से पूर्णतः परिचित था। उसका विश्वास था कि, 'कोई भी अभिनेत्री सफल पत्नी प्रमाणित नहीं हो पाती।' (सेतु, पृष्ठ-18) किंतु, रचना तो अपना फिल्मी कैरियर बनाने के लिए ही इस विवाह के लिए तैयार हुई थी। उसने भी अमर के सम्मुख एक शर्त रख दी कि, अमर को भी अभिनय छोड़ना होगा। अमर अपनी बात पर अडिग रहा और रचना भी। तब प्रोफेसर साहब ने बीच का रास्ता निकाला और कहा- 'यदि तुम दोनों यह निश्चय कर लो कि किसी भी फिल्म में तुम दोनों एक साथ ही काम करोगे, तो मेरे जानते तुम लोगों का संकट दूर हो जाएगा।' (सेतु, पृ-१९)

इस शर्त को दोनों ने स्वीकार किया और प्रणय सूत्र में बंध गए। कुछ समय तक दोनों की जोड़ी को लोगों ने खूब पसंद किया एक बार अमर को मीनाक्षी पत्रिका के संपादक से यह पता चलता है कि इस वर्ष का सर्वश्रेष्ठ अभिनेत्री पुरस्कार रचना को प्रदान किया

जाएगा और अभिनेता का पुरस्कार किसी दूसरे को यह सुनकर अमर के मन में द्वेष का भाव जाग उठता है। और रचना के आग्रह पर भी अस्वस्थ हो जाने का बहाना बनाकर वह पुरस्कार वितरण समारोह में नहीं जाता है। इस घटना के बाद अमर के जीवन में एक भयंकर तूफान आ जाता है। जब फिल्म निर्देशक भाखरी साहब अभिनेत्री के लिए रचना को रखते हैं। और फिल्म में अभिनेता के लिए महेंद्र को साइन करवाते हैं। तब रचना भाखरी साहब से कहती है कि, 'हम दोनों किसी भी चित्र में एक साथ ही काम करते हैं।' (सेतु-पृ-४६) इस पर भाखरी कहता है कि, हम अमर को नायिका के बाप की भूमिका देंगे और उनके रेट के अनुसार ही उनको वही रकम देंगे। यह सुनकर अमर को भाखरी साहब और पिंटू पर बहुत क्रोध आता है। बाद में, उसे अहसास होता है कि सचमुच अब उसकी उम्र हीरो बनने योग्य नहीं रही है। और तब अमर के मन में पिता बनने की भावना जागृत होती है वे रचना से निवेदन करता है कि 'तो मैं तुमसे एक संतान की भीख माँगता हूँ।' उस पर रचना का जवाब होता है कि, 'मैं माँ बनने को तैयार हूँ लेकिन अभी नहीं।' (सेतु-पृ ५२) रचना को मालूम है कि माँ बनने के बाद उसका फिल्मी कैरियर लगभग समाप्त हो जाएगा और वह अपनी मंजिल के करीब आकर किसी भी प्रकार की कुबानी देना नहीं चाहती। अमर रचना को उसके वायदे का भी स्मरण करवाता है जिसे सुनकर रचना कहती है, 'देखिए, अब तो मेरी उन्नति होने लगी है। लोग मेरी प्रतिभा का सम्मान कर रहे हैं। क्या आप चाहेंगे कि आपकी रचना बीच मझधार में ही डूब जाए?' ... मैंने जो साधना की, उसका परिणाम अब सामने आ रहा है। इस स्थिति में यदि मैं अभिनय छोड़ भी दूँ तो मेरी आत्मा मुझे कभी भी माफ न कर सकेगी। आपके साथ रहकर मैंने अभिनय को अपने जीवन का अभिन्न अंग बना लिया है। इसके अभाव में शायद मैं...' (सेतु-पृ-५२)

इस प्रकार रचना अभिनेत्री बनी रहने की चाह में ना तो स्वयं माँ का सुख पाती है, ना अमर को पिता बनने का सुख दे पाती है और ना ही प्रोफेसर साहब को नाना बनने का। बल्कि फिल्मों के प्रति उसका आकर्षण इतना बढ़ जाता है कि 'अंग प्रदर्शन' के दृश्य देने में भी उसे कोई एतराज नहीं होता। अभिनेता महेंद्र के साथ उसके रोमांस के चर्चे अनेक पत्र-पत्रिकाओं में छपते हैं। जिसे पढ़कर रचना के पिता रचना को फटकार भरा पत्र लिखते हैं लेकिन रचना पर पिता के पत्र का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अमर के पुनः प्रयास पर रचना कहती है कि, 'आप दूसरी शादी कर लें' (सेतु- पृ-७९)

इस पूरे उपन्यास में रचना और महेंद्र की बात-चीत से यह स्पष्ट होता है कि पूरे उपन्यास की कथा के केंद्र बिंदु दो परिवार हैं जिसमें एक अमर और रचना का है तो दूसरा महेंद्र और उसकी पत्नी का। महेंद्र की पत्नी अभिनेत्री नहीं है पर उसका भरा पूरा परिवार है, उसकी पत्नी सिर्फ एक पत्नी है। दूसरा परिवार अमर और रचना का है जहाँ दोनों ही काम करते हैं, दोनों नायक व नायिका हैं जिसमें रचना अधिक महत्वाकांक्षी है।

यही उनके दांपत्य जीवन के बिखराव का कारण भी है।

नई कहानी और साठोत्तरी कहानी का आगमन हिंदी साहित्य में एक विमर्श के रूप में हुआ। विमर्शों का आगमन समस्याओं के आगमन से होता है, ये समस्याएँ ही विमर्शों का रूप लेती हैं। पाश्चात्य जीवनशैली, पाश्चात्य शिक्षा-व्यवस्था तथा चकाचौंध के आयात ने भारतीय जीवनशैली को काफी गहरे रूप से प्रभावित किया जिसके परिणामस्वरूप सभ्यता-संस्कृति-संस्कारों वाले इस देश के परम्परागत जीवनशैली में विकृति उत्पन्न होने लगी। इस नई चकाचौंध की संस्कृति में मानव स्वार्थ सर्वोपरि हो गया। अपनी महत्वाकांक्षा को साधने के लिए मनुष्य ने पारिवारिक रिश्तों और दाम्पत्य जीवन तक की बलि चढ़ा दी। साठ के दशक तथा उसके बाद के भारत की सामाजिक-पारिवारिक व्यवस्था में इस नव्यतम वैयक्तिक स्वार्थपरता का रुझान परिलक्षित होता है जिसका प्रभाव हिंदी साहित्य में भी दिखाई दिया। मन्नू भंडारी, ममता कालिया, उषा प्रियम्वदा, चित्रा मुद्गल आदि के कथा साहित्य में इस पारिवारिक-दाम्पत्य जीवन के बिखराव को बखूबी देखा जा सकता है।

श्रवण कुमार गोस्वामी के उपन्यास 'सेतु' में भी इसी वैयक्तिक स्वार्थपरता की समस्या को उठाया गया जिसमें हरेक व्यक्ति अपने स्वार्थ को साधता नजर आ रहा है। रचना के पिता अपनी जिम्मेदारी से मुक्त होना चाहते हैं तो रचना एक प्रसिद्ध नायक के कंधे पर पैर रखकर चकाचौंध की दुनिया में अपना परचम लहराना चाहती है, वहीं अमर अपने अंधेड़ उम्र में एक कमसिन लड़की से विवाह के सपने को साकार करने की जद्दोजहद करता नजर आ रहा है। अतिवैयक्तिक चेतना की इस भागदौड़ में यदि कुछ खो रहा है तो वह है पारिवारिक दाम्पत्य जीवन के रिश्ते। साठ के दशक से लगातार विकसित होते भारतीय समाज में रिश्ते निरंतर छीजते जा रहे हैं। उपन्यास में कथा कलात्मक मोड़ तब लेती है जब रचना का कैरियर भी ढलान पर आता है और उसे किसी एक फिल्म में माँ की भूमिका निभाने का प्रस्ताव मिलता है, उसे अहसास होता है कि अक्वल बनने की जिस भागमभाग में उसने अपने पति को पति का दर्जा नहीं दिया, माँ नहीं बनी, उस भागमभाग में असल में वह कितना पीछे छूट गई है।

उत्तर आधुनिक युग भारत में नई चेतना, नये विमर्शों को लेकर आता है। विज्ञान के इस युग में जो नयी समस्याएँ नये विमर्शों का रूप ले रही हैं, उनमें परम्परागत विकास दृष्टिगोचर हो रहा है। साठ से नब्बे के दशक में जो समस्याएँ पल्लवित-पोषित हो रही थीं, उत्तरआधुनिकता उन सभी को नई परिस्थिति के आधार पर भयावह साँचे में ढालने का कार्य कर रही है। पाश्चात्य जीवनशैली, मॉल संस्कृति तथा चकाचौंध के उत्तर आधुनिक रूप में मानव स्वार्थी और महत्वाकांक्षी बनता जा रहा है। यही कारण है कि शिक्षा ग्रहण कर अपने अधिकारों को समझकर उत्तराधुनिक स्त्री आत्मनिर्भर बन गई। दाम्पत्य जीवन

में बिखराव का यही प्रमुख कारण था। सेतु उपन्यास में रचना इसी आत्मनिर्भरता के कारण अमर से दूसरे विवाह के लिए कहती है। सफलता का नशा जब सिर चढ़कर बोलता है तब व्यक्ति को किसी की आशयकता नहीं होती किंतु जब व्यक्ति इन ऊँचे उड़ानों से जमीन पर गिरता है तब उसे अहसास होता है कि सफलता क्षणिक तथा रिश्ते शाश्वत होते हैं, जिन्हें छोड़ा नहीं जा सकता। क्षणिक खुशी के लिए शाश्वत सत्य को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता और न ही उसके बिना रहा जा सकता है। जीवन में ये उतार-चढ़ाव लगभग हरेक के जीवन में आता है और जब इस सफर में इस सत्य का ज्ञान होता है तब पश्चताप के सिवा और कुछ नहीं रह जाता। सेतु उपन्यास में रचना को जब इस सत्य का बोध होता है, तब वह कहती है, 'बस, हम दोनों ऐसे ही दो गाँव हैं, जो एक-दूसरे के समीप कभी नहीं आ सके, क्योंकि हमारे बीच कोई सेतु नहीं है। मेरा जीवन निरर्थक है। मैं अधूरी हूँ। अब मैं इसी प्रकार अकेली और कटकर जीना नहीं चाहती हूँ।' (सेतु-पृष्ठ-१०५) कहा जाता है कि बुद्धि और हृदय के सामंजस्य से ही जीवन में आनंद की स्थापना होती है। रचना और अमर अपने जीवन में सफल भी होते हैं और यहीं से 'अभिनव कला मंदिर' के रूप में रचना और अमर आनंद का आस्वादन करते हैं। निरंतर उतार-चढ़ाव के बाद उनके जीवन में अंततः स्थिरता आ जाती है। मेरी दृष्टि में बुद्धि और हृदय के इसी सामंजस्य को दिखाना ही लेखक का लक्ष्य हो सकता है।

हिंदी विभागाध्यक्ष
आर.जे. कॉलेज
घाटकोपर, मुंबई (प.)
■ ■ ■

राजनेताओं के छल-छद्म का यथार्थ चित्रण

डॉ. श्यामसुंदर पाण्डेय

अपने प्रारंभिक उपन्यास 'जंगलतन्त्रम' की सर्जना करके ही श्रवणकुमार गोस्वामी जी ने यह संकेत दे दिया था कि भारतीय राजनीति के आडम्बरोँ पर करारी चोट करने की सामर्थ्य उनमें है 'कहानी एक नेता जी की' उपन्यास स्वतंत्र भारत के राजनीतिक छल-छद्म की और घोटालेबाज राजनेताओं की स्वार्थवादिता के पराकाष्ठा की कहानी है। यह उपन्यास राजनीति में परिवारवाद, सुविधाभोगी प्रवृत्ति, राजनेताओं की चरित्रहीनता, उनकी लम्पटता और धनलोलुपता की पृष्ठभूमि पर आधारित है साथ ही साथ सामान्य जनता की लाचारियों और उनके बीच व्याप्त रुढ़ियों - अंधविश्वासों का भी यथार्थ अंकन यहाँ किया गया है। उपन्यास का प्रारंभ ही इस बात की ओर संकेत करता है कि भारत में आज भी लोग अपनी समस्याओं के समाधान के लिए सर्वप्रथम मंत्र-तंत्र और ढोंगी बाबाओं के आशीर्वाद का ही सहारा लेना चाहते हैं। समस्या चाहे जो भी हो सबका निदान एक ही है - 'किसी धर्मगुरु या बाबा की शरण में जाना' विधवा भगजोगनी को अपने बेटे बल्ली के अधिक भूख लगने की चिंता है उसका बेटा साँप, मिट्टी, काँच और कच्चा माँस आदि जो कुछ मिलता है, सब खा जाता है। बाबा बच्चे की पाचन शक्ति बढ़ाने के लिए उसे जंगल से लाकर सर्व भकोसक चूर्ण देते हुए भविष्यवाणी करते हैं कि बेटे बल्ली की विशेषता यह है कि अब यह सब कुछ पचा सकता है इसके पेट में साधारण चीज भी जाकर पेंचदार बन जायेगी जिस नेता या राजा में यह गुण होता है, वह अपने समय का बहुत बड़ा राजनेता या कूटनीतिज्ञ होता है। तेरे बल्ली में राजा के सारे गुण हैं, इसलिए आज ध्यान से तू सुन ले कि तेरे बेटे बल्ली को एक दिन राजा बनना है। राजा याने आज का राजा, जिसे लोग नेता जी कहते हैं'। इसके बाद बल्ली में कुछ भी खा कर पचा लेने की शक्ति आ जाती है। लेखक ने यहाँ बड़े ही रोचक और व्यंग्यात्मक रूप में ऐसे बाबाओं के प्रति ग्रामीण जीवन के विचारों को भी अभिव्यक्त किया है जहाँ गाँव के अनेक लोगों के मन में बाबा को अपने घर में रखने की होड़ लगती है। बाबा की सलाह मानकर ही भगजोगनी अपने गाँव से काफी दूर जाकर बेटे को पढ़ाने लगती है। वहाँ वह प्रिंसिपल के बेटे का अपहरण करवाकर उनकी मदद से दसवीं की परीक्षा पास कर लेता है। बाद में छात्र नेता बन जाता है। इन घटनाओं के बाद

उपन्यास की कथावस्तु में चालीस वर्षों का अन्तर आता है जहाँ बल्ली अब एक बड़ा नेता बन चुका है। वह अपनी माँ के चित्र पर फूल चढ़ाते हुए बच्चों को अपने जीवन की कहानियाँ सुनाता है और भावनात्मक रूप से लोगों को प्रभावित करने का पूरा प्रयास करता है। भावनात्मक रूप से लोगों को प्रभावित करने की राजनेताओं की प्रवृत्ति का लेखक ने यहाँ बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है।

हमारे देश में आपराधिक पृष्ठभूमि से राजनीति में आये हुए राजनेताओं की एक लंबी सूची तैयार की जा सकती है। ऐसे नेताओं की सफलता के पीछे सामान्य जनता का भोलापन और सरकारी कर्मचारियों के ढीले रवैये की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। गुंडों के बल पर लोगों को डराने-धमकाने और लूटपाट आदि का काम वाला बल्ली इंदिरा गाँधी और इमरजेंसी का विरोध करने के कारण पुलिस की गिरफ्त में आ जाता है लेकिन रास्ते में इंदिरा गाँधी के समर्थकों को देखकर उनके समर्थन में नारे लगाता है और वहाँ के लोग उसे अपने दल का समझकर पुलिस से छुड़ा लेते हैं। सच्चाई भी यही है कि हमारे नेताओं का मात्र एक सिद्धांत है-कुर्सी। इसके लिए उन्हें चाहे जो करना पड़े वह सब कुछ उचित है। जनता भी ऐसे दलबदलुओं के दुष्कर्मों को भूलते हुए अपना प्रतिनिधि चुनने में संकोच नहीं करती। बल्ली को भी कांग्रेस विरोधी दल का टिकट मिल जाता है और सरकार के विरुद्ध आक्रोश का लाभ उठाते हुए वह चुनाव जीत जाता है। यहाँ लेखक द्वारा बल्ली के मुख्यमंत्री बनने तक की घटनाओं पर विशेष चर्चा न करते हुए कथावस्तु सीधे तमाम घोटाले करने के बाद नेता जी के अमेरिका जाने की योजना पर पहुँचती है। जहाँ नेता जी अपने दल के किसी व्यक्ति पर विश्वास न करते हुए अपनी अनपढ़ पत्नी दर्जन भर बच्चों की माँ चूना देवी 'लइका की मम्मी' को मुख्यमंत्री बनवाते हैं। नेता जी को तो अपनी पत्नी की काबिलियत पर पूरा-पूरा विश्वास है ही। उनकी पार्टी की ही राधा देवी इस बात का समर्थन करती हुई कहती हैं। 'औरत अगर घर संभालना जानती है तो शासन करना जानती है। नूरजहाँ ने औरत होते हुए भी हुकूमत चलाकर दिखा दिया। श्रीलंका में औरत ही शासन कर रही है। बांग्लादेश में भी औरत की हुकूमत है। इन नेताओं द्वारा उदाहरणों को अपने कुतर्कों के माध्यम से किस प्रकार बिना तुक के भी कहीं का कहीं जोड़ दिया जाता है। इसका सुन्दर उदाहरण यहाँ लेखक ने प्रस्तुत किया है। स्पष्ट है कि लेखक द्वारा यहाँ देश के उन राजनीतिक क्षेत्रीय दलों की तरफ संकेत किया गया है जो कहने के लिए तो प्रजातांत्रिक प्रणाली का समर्थन करते हैं लेकिन सच्चाई यही रहती है कि सत्ता केवल उनके पारिवार के सदस्यों के इर्द-गिर्द ही घूमती है शेष पदों पर उनके विश्वसनीय चेले-चमचे ही विराजमान रहते हैं। जिनकी कुर्सी केवल उस परिवार विशेष की कृपादृष्टि पर ही टिकी रहती है। यही कारण है घर के चौके से पत्नी को निकाल कर सीधे मुख्यमंत्री की कुर्सी पर विराजमान कर देने के बाद भी सरकार पर संकट आ जाने की उन्हें तनिक चिंता नहीं है। यह उपन्यास एक व्यंग्यात्मक

उपन्यास है जिसमें पात्रों को प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। साथ ही राजनीति के क्षेत्र में नैतिक मूल्यों के हास को भी यहाँ चित्रित करने का सफल प्रयास किया गया। यहाँ नेता जी के चारित्रिक विकास को केंद्र में न रखते हुए उनके द्वारा किये गये घोटालों को केंद्र में रखा गया है जिससे कथावस्तु मुख्यमंत्री रहते उनके द्वारा किये गये घोटालों पर और उनके चरित्र पर केन्द्रित हो जाती है। नेता जी की पाचन शक्ति इतनी मजबूत है कि वे सीमेंट, कोयला, अलकतरा, पशुओं का चारा आदि सब कुछ हजम कर जाते हैं। लेखक स्पष्ट रूप से यह संकेत करना चाहता है कि ये घोटाले किसी एक विभाग में नहीं बल्कि सभी विभागों में होते हैं अथवा कहें कि घोटाले इन नेताओं की नियति बन गई हैं। लेखक यहाँ बात भले ही एक नेता की कर रहे लेकिन उसका संकेत इस प्रकार के सभी नेताओं की तरफ है। पेट के इलाज के लिए नेता जी के अमेरिका जाने और चूना देवी के मुख्यमंत्री बनने के बाद की स्थितियों को लेखक ने बड़े ही व्यंग्यात्मक और रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है सर्व प्रथम समस्या तो दफ्तरों के बाबुओं द्वारा चूना देवी को क्या कह कर संबोधित किया जाये, इस बात की होती है उन्हें 'नेता जी' कहने पर चूना देवी डाँटते हुए कहती हैं कि 'ए बड़ा बाबू, आप हमको मुख्य मत बूझियेगा। हमहू पोलटीस जानते हैं! हम नेता जी कइसे हुए जरा बताइए तो? नेता जी तो अमरीका चले गए। अब हम हियाँ सरकार हैं-सरकार' और तबसे वह सबके द्वारा 'सरकार जी' कही जाने लगी नेता जी के जाने के बाद उनके पिछलग्गुओं द्वारा की जाने वाली पूजा, नमाज, यज्ञ आदि का भी यहाँ यथार्थ चित्रण मिलता है।

अमेरिका जाने के बाद के चित्रण में नेता जी का चरित्र पूर्णतः उभर कर हमारे सामने आता है। प्रारंभ में तो उन्हें अपने प्रदेश और यहाँ के लोगों की याद आती है जिन लोगों से वे यहाँ प्रतिदिन सुबह से ही घिरे रहते थे। उनके बिना उनकी स्थिति पानी से निकाली मछली की तरह बन जाती है और वे कहते हैं कि 'यदि अपने प्रदेश में होते, वहाँ सैकड़ों लोगों की भीड़ जमा होती। उस भीड़ में मंत्री, एम. एल. ए., एम. एल. सी., एम. पी., अफसर, डॉक्टर, प्रोफेसर, पुलिस के आला अधिकारी, पार्टी के कार्यकर्ता, आदि सभी शामिल होते। हिन्दू नेता जी के शीघ्र स्वास्थ्य लाभ के लिए मंदिरों में पूजा अर्चना करते मुसलमान नेताजी की सलामती के लिए मस्जिदों में ख़ास तौर पर जुम्मे की नमाज पढ़ते ईसाई गिरिजाघरों में नेताजी की चंगाई के लिए विशेष प्रार्थना का आयोजन करते सिक्ख गुरुद्वारों में नेता जी की सेहत के लिए अरदास करते।' यह सर्व विदित है कि हमारे नेताओं को लोगों से घिरे रहने, उन्हें अपने पीछे-पीछे घुमाते रहने और उनके कल्याण के थोथे वादों में उलझाए रहने की नियति बन गई है। हमारे देश की जनता इन्हें ही अपना मसीहा मानती है क्योंकि वे हमारी जाति, हमारे धर्म और हमारे वर्ग आदि की बातें करके हमें भलाई के भ्रम जाल में फँसाये रहते हैं और, सामान्य जनता के नाम पर इन नेताओं की चापलूस मंडली उन्हें खुश करने और स्वयं को उनका सबसे नजदीकी

हमदर्द साबित करने के लिए कुछ भी करने को तैयार रहते हैं। इस प्रकार के दृश्यों का वर्णन करते समय श्रवण कुमार गोस्वामी जी पूरे परिवेश का एक ऐसा दृश्य प्रस्तुत करते हैं जो आँखों के सामने घटित होते हुए दिखाई देने लगता है।

समय के साथ नेता जी की दृष्टि जब अमेरिका की सुंदरियों पर पड़ती है तो उन्हें वहाँ स्वर्ग की अप्सरायें याद आने लगती हैं और सब कुछ को भूल उन्हीं के कल्पना लोक में खो जाते हैं। यहाँ एक दर्जन बच्चों की माँ अपनी पत्नी चूना देवी से आजीवन असंतुष्टि की उनकी भावनायें उभर कर सामने आती हैं। वे सोचने लगते हैं कि 'लड़का की मम्मी के साथ मैंने अपनी जिन्दगी का एक बड़ा हिस्सा गुजार दिया। इससे एक दर्जन बच्चे भी हो गए परन्तु, यह औरत कभी पत्नी नहीं बन सकी। जो औरत पत्नी ही नहीं बन सकी, वह प्रेमिका कैसे बन सकती है।' नेता जी की यही असंतुष्टि उन्हें अपने प्रदेश में शान्ति देवी के पास पहुँचाती है जहाँ से दूर करने के लिए चूना देवी को शांति का 'झोंटा पकड़' आयोजन करना पड़ता है। अमेरिका में नेता जी स्वयं को पत्नी की निगरानी से निश्चिंत मान बैठते हैं लेकिन वहाँ आते ही चूना देवी उनके रहस्यों को समझ लेती हैं और बड़े ही तीखे शब्दों में चेतावनी देते हुए कहती हैं - 'अभी आपका अपरेशन हुआ है, इसी के वास्ते हम चुप हैं, नई तो हम आपको हिंया से धकिया के ले जाते। बहुत मुसकिल से हम सांति देवी से आपका पीछा छोड़वाये है। मगर हिंया देख रहे हैं कि आप मेमिन के फेरा में पड़ गये है। जदि हिंया आप कौनो गड़बड़ करेगे तो आप समझिएगा।' वास्तव में 'नेता जी की एक विशेषता यह भी है कि जहाँ कहीं भी किसी सुन्दरी को देखते हैं, वहाँ तुरंत लार टपकने लगती हैं। नेता जी की चारित्रिक सच्चाइयों को उजागर करते हुए लेखक ने चिकित्सा जगत से सम्बद्ध भारतीय और अमेरिकी लोगों की स्थितियों को भी चित्रित किया है। डोरोथी की सेवा भावना को नेता जी अपने प्रति उसका आकर्षण मान लेते हैं। वे डोरोथी की मुस्कराहट को बिकाऊ मान लेते हैं और उसे भारत में अस्पताल बनवाने तथा उसे अस्पताल में उच्च पद एवं अच्छा वेतन देने तक का लालच भी दे देते हैं लेकिन उसके ऊपर इनके किसी भी जाल का कोई प्रभाव नहीं पड़ता अपनी नर्स के इस व्यवहार पर डॉ. किंगसन को गर्व है। एक नर्स के कार्य को अग्निपरीक्षा बताते हुए वे कहते हैं 'इस काम में नर्स को निरंतर जलना पड़ता है, झुलसना पड़ता है जिसके लिए ऐसा करना संभव होता है, रोगी की सच्ची सेवा में ही उसे सफलता मिलती है।' न केवल नर्स बल्कि अमेरिकी डॉक्टरों की अपने मरीजों के प्रति तल्लीनता और उनकी पठनीयता आदि बातें भारतीय डॉ. सिन्हा को चकित कर देती हैं, जो अपने मरीजों से खाने-पीने की बात भी अपनी भाषा में नहीं करते हैं। इतना ही नहीं जिस धन के लालच में डॉ. सिन्हा नेता जी के साथ वहाँ गये हैं। उस धन और पद का लालच अमेरिकी डॉक्टरों को रंचमात्र भी नहीं है। उनके लिए चिकित्सा का क्षेत्र त्याग, शोध और नित नई चुनौतियों का क्षेत्र है। नेता जी के पेट का मामला भी उनके

लिए एक नए शोध का विषय और चुनौती बना हुआ है। यही कारण है कि डॉ. किंगसन और डॉ. ब्राउन जैसे लोग नेता जी से मीठी-मीठी बातें तो करते हैं लेकिन उनके द्वारा कुलपति बनाये जाने के लोभ या अन्य किसी बहकावे में नहीं पड़ते। नेता जी के पेट को लेकर लेखक द्वारा व्यंग्यात्मक रूप में अनेक घटनाएँ प्रस्तुत की गई हैं। आपरेशन के बाद भी उनके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि 'उनका पेट आम जनता का खाली पेट नहीं है बल्कि यह खाते-पीते हुए गरीबों के मसीहा का पेट है।' इसमें ब्रह्माण्ड भी समा सकता है। नेता जी के पेट से निकलने वाली एक-एक चीजें उनके द्वारा किये गये घोटालों की परिचायक है। उपन्यास के अंत में लेखक द्वारा नेता का अमरीकी मीडिया को दिया गया साक्षात्कार और बड़े ही नाटकीय ढंग से स्वीटजरलैंड जाने - आने, और वहाँ के बैंक में पैसे जमा करने आदि की घटनाएँ इस बात की तरफ संकेत करती हैं कि इन नेताओं के चरित्र और उनके कार्यों के हेतु को पहचान पाना बड़ा ही कठिन है। जनता की सेवा के नाम पर देश के धन को विदेश में ले जाकर जमा करना, सरकारी खर्चों के नाम पर अपने मातहतों को सुविधाएँ प्रदान करना और सत्ता की बागडोर येन केन प्रकारेण अपने सगे-सम्बन्धियों को ही पकड़ाए रखना और देश-विदेश की यात्राओं के नाम पर हर प्रकार की सुख-सुविधाओं का आनंद उठाना आदि इस प्रकार की तमाम बातें इस उपन्यास में उभर कर सामने आती हैं। लेखक ने जिस परिवेश में इस कथानक का ताना-बना बुना है वह परिवेश यहाँ साकार हो उठा है और यही बात इस उपन्यास को यथार्थता के काफी करीब ले जाती है।

उपन्यास के पात्र समाज के जिन-जिन क्षेत्रों से आते हैं वे अपने वर्ग अथवा क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करते हैं। भाषा पर भोजपुरी का व्यापक प्रभाव दिखाई देता है जो हिन्दी के सामान्य पाठक हैं अथवा जिनका भोजपुरी क्षेत्रों से कोई सम्बन्ध नहीं, उनके लिए भाषा थोड़ी कठिन अवश्य लगेगी लेकिन यह भाषा उपन्यास के पात्रों के परिवेश के सर्वथा अनुकूल है इसलिए यह कहना उचित होगा कि 'कहानी एक नेता जी की' उपन्यास सच्चे अर्थों में वर्तमान के राजनीतिक जीवन की और उनकी लूटपाट का यथार्थ प्रस्तुत करता है।

सहायक प्राध्यापक एवं शोध निदेशक,
हिंदी विभाग,
बिड़ला महाविद्यालय, कल्याण (प.),
थाने (महाराष्ट्र)



भारत बनाम इंडिया-उपन्यास में ग्रामीण एवं शहरी जीवन

डॉ. उमाशंकर पाल

श्रवणकुमार गोस्वामी एक ऐसे साहित्यकार हैं जिनके साहित्य में ग्रामीण एवं शहरी जीवन की संस्कृति स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। इनका उपन्यास 'भारत बनाम इंडिया' आजादी के बाद के पच्चीस वर्षों का लेखा-जोखा है। आजादी के बाद लोगों का मानना है कि भारत दो हिस्सों में बँट गया-भारत और पाकिस्तान। लेकिन इस उपन्यास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि भारत दो हिस्सों में नहीं, तीन हिस्सों में बँटा है। इंडिया, भारत और पाकिस्तान। लेखक ने इस उपन्यास में 'भारत' और 'इंडिया' की चर्चा की है। इनका यह उपन्यास 'भारत बनाम इंडिया' प्रतीकात्मक है। 'भारत' ग्रामीण जीवन का प्रतिनिधित्व करता है तो 'इंडिया' शहरी जीवन का। इस उपन्यास में जैक फिलिप इंग्लैंड का निवासी है। वह एक पत्रकार है, उसे भारत की प्रगति देखने के लिए भारत भेजा जाता है। भारत अपनी आजादी की पच्चीसवीं वर्षगाँठ मना रहा है। भारत भ्रमण के बाद उसे दुख होता है कि भारत का बाहरी सौंदर्य जितना अच्छा है, उतना आंतरिक नहीं है।

'भारत बनाम इंडिया' उपन्यास का सृजन उस समय हुआ, जब भारत आजादी के पच्चीस वर्ष पूरा कर, रजत जयंती मनाने की तैयारी कर रहा था। इन पच्चीस वर्षों में भारत की प्रगति देखने के लिए इंग्लैंड के पत्रकार जैक फिलिप को भारत भेजा जाता है। वह भारत आता है। भारत के मुंबई जैसे महानगर का दर्शन करता है लेकिन उसे वह भारत नहीं दिखाई देता है, जिस भारत की तलाश में वह आता है।

लेखक श्रवणकुमार गोस्वामी ने इस उपन्यास में शहरों और गाँवों की प्रगति को दिखाने का प्रयास किया है। आजादी के इन पच्चीस वर्षों में भारत के शहरों-मुंबई, कोलकाता, दिल्ली आदि में कितनी प्रगति हुई है? जैक फिलिप इन शहरों की प्रगति को देखकर चौंक जाता है। शहरों की सड़कों और अट्टालिकाओं को देखकर उसे अत्यंत ही खुशनुमा एहसास होता है, किंतु जब लोगों की रहन-सहन और भाषा में अंग्रेजियत का भीषण प्रभाव देखता है तो उसे काफी निराशा होती है।

आजादी के इन पच्चीस वर्षों में शहरों की प्रगति को देखकर जैक शरमसार हो जाता है। मुंबई की प्रगति देखने के बाद वह कोलकाता पहुँचता है। वहाँ उसकी निराशा आश्चर्य की हद को पार कर जाती है। वह जिस होटल में ठहरता है, वहाँ उसकी भेंट स्वीटी नामक एक कॉल गर्ल से हो जाती है, जो वेश-भूषा से लेकर भाषा तक में पूरी तरह अंग्रेजियत से लैस है, साथ ही हद दर्जे की बेशर्म भी। भारतीय महिलाओं के प्रति जो एक श्रद्धा का भाव था, स्वीटी से मिलकर खंडित हो जाता है। हमारे शहरों की यही प्रगति है, जिसे लोग भोग रहे हैं। लेखक ने इस सच्चाई को समाज के सामने लाने का साहस इसलिए किया है कि लोग रजत जयंती के अवसर पर अपने देश की प्रगति को देख सकें।

भारत में आजादी का जश्न सिर्फ समर्थ लोगों के बीच मनाया जा रहा है। इंडिया पैलेस के जश्न को देखकर जैक को और भी अचरज होता है, जहाँ पूरी तरह अंग्रेजी संस्कृति का नजारा आता है। वह समझ नहीं पाता कि यह भारत की प्रगति है या पाश्चात्य संस्कृति का साम्राज्य। पाश्चात्य संस्कृति को देखकर जैक संतुष्ट नहीं होता है। उसे उस भारत का दर्शन करना है जिसे श्रवणकुमार गोस्वामी ने इस उपन्यास के माध्यम से देश में बढ़ती भुखमरी, बेरोजगारी को दर्शाने का प्रयास किया है।

श्रवणकुमार गोस्वामी ने इन पच्चीस वर्षों में भारतीय संस्कृति के बदलते हुए आयाम को चित्रित किया है। शहरीकरण के कारण लोगों के जीवन-प्रवाह में जो परिवर्तन आया है, उसे देखकर जैक परेशान है। मुंबई, कोलकाता, दिल्ली आदि शहरों के भ्रमण से पता चलता है कि भारत ने जो प्रगति की है, वह औद्योगिक क्षेत्र में की है। “वह अपने एक मित्र की सहायता से भिलाई, राउरकेला, जमशेदपुर, भाखडा, हीराकुंड, दुर्गापुर, बोकारो, बंगलोर, भोपाल, तारापुर, विशाखापटनम, मद्रास वगैरह कहीं भी जाओ, तो आप को नॉलेज होगा कि हमने कितना प्रोग्रेस किया है।”^{१९} नगरों के इस प्रोग्रेस को देखकर हैरान हो जाता है कि भारत ने क्या प्रगति की है। लेकिन जब द्वैत्याकार कारखानों के सामने वह बेकार लोगों की भीड़ देखता है तब उसे काफी तकलीफ होती है। भारत आजादी की खुशी तो मना रहा है लेकिन लोगों को रोजगार नहीं है।

लेखक ने भारत में उन लोगों का जिक्र किया है, जो सिर्फ नाम से भारतीय हैं। उनके रहन-सहन, आचार-विचार भारतीय नहीं है। ये लोग तो शहर के रंग में रंगे हुए हैं। इनके इस विदेशी व्यवहार को देखकर लेखक कहता है कि- “इधर के लोग जापानी टाइप के जूते पहनते हैं, इंग्लिश शूट पहनते हैं, फ्रेंच कट मूँछ रखते हैं, रसियन टोपी पहनते हैं, अमेरिकन छाता ओढ़ते हैं, हाथ में स्विश घड़ी बाँधते हैं, इंग्लिश फिल्म देखते हैं, गॉजा पीते हैं, भाँग पीते हैं, व्हिस्की पीते हैं-फिर भी यहाँ के लोग अपने को हिन्दुस्तानी ही बोलते हैं।”^{२०} इस विवरण को सुनते हुए जैक, इंडिया को बड़े ध्यान से देखते हुए

कहता है कि यही आप की प्रगति है, पच्चीस वर्षों की।

श्रवणकुमार गोस्वामी ने 'भारत बनाम इंडिया' उपन्यास में भारत की उस स्थिति का भी वर्णन किया है, जब लोग किसान से मजदूर बन जाते हैं। वे कुछ लोगों के हाथों का खिलौना बनकर रह जाते हैं, जब चाहे खेलें, नहीं तो फेंक दें। वे धनी -साहुकार लोग अपने- अपने जुनून में रहते हैं। ऐसी स्थिति में लोगों का मन ऊब जाता है। उनके मन में इच्छा होती है कि - "सारे संसार को हम आग लगा दें। मगर हम कुछ नहीं कर सकते; क्योंकि हम बड़े लाचार और कमजोर हैं। हमसे बड़ा लाचार और कमजोर शायद ही कोई हो। मगर मन में जो आग सुलग रही है, उसका क्या करें? हम उसे शांत कर नहीं सकते। पर इस डर से कि वह आग हमें ही न जला दे, हम उस आग को दबाने का एक रास्ता निकाल सकते हैं। वह रास्ता है - गाने का। गीत गाकर हम अपना मन हल्का कर सकते हैं।" इससे यह स्पष्ट है कि शहर के लोगों का मन बहलाने का तरीका मदिरापान है, तो गाँव के लोगों का तरीका गीत गाना।

जैक शहरों की प्रगति देखने के बाद, भारत जी का दर्शन करने के लिए सायकल पर सवार होकर गाँवों की ओर आगे बढ़ता है। जहाँ भी अपनी सायकल को रोकता है, वहाँ के लोग उसे घेरकर देखने लगते हैं कि ये गोरे रंग का आदमी यहाँ कैसे आ गया। लेकिन उसकी हिन्दी बोलने पर लोग चौंक जाते हैं। उन लोगों के बीच रहकर जैक भारत की प्रगति देखना चाहता है। गाँवों के विकास के नाम पर सरकार अनुदान देती है। गाँवों का विकास कम अधिकारियों का ज्यादा हुआ। जैक देखता है कि बाढ़ पीड़ित लोगों के लिए सरकार ने अनुदान दिया है लेकिन अनुदान वितरण में पारदर्शिता नहीं है। पाँच सौ रुपये की जगह मात्र पचास रुपये देने का विरोध बाढ़ पीड़ित लोग करते हैं तो उनको पचास की जगह पाँच सौ रुपये मिलते हैं। यह खुशी व्यक्त करते हुए एक बूढ़ा व्यक्ति जैक से कहता है कि-"बाबू, अगर आज आप नहीं होते, तो हमको केवल पचास रुपइया ही मिलता। आप थे, आप ने बहस करके हम लोगों को पाँच-पाँच सौ रुपइया दिला दिया। भगवान आप का भला करें।" इसी तरह गाँवों में भी भ्रष्टाचार है, जिसे इस उपन्यास के माध्यम से देखा जा सकता है।

लेखक ने गाँव में रहने वाले लोगों के प्रति बढ़ते अत्याचार का भी वर्णन किया है। भारत आजादी के बाद रजत जयंती मना रहा है लेकिन अन्दर से कितना खोखला होता जा रहा है, इस सच्चाई की ओर किसी का ध्यान नहीं है। जंगलों और पहाड़ों के बीच रहने वाले आदिवासियों की ओर किसी का ध्यान नहीं जाता है। ये बेचारे आजादी के जश्न नहीं मना रहे हैं। ये पहले की तरह आज भी अपना जीवनयापन विवशता में कर रहे हैं। लेखक कहता है कि - "भाई जी, ये वनवासी किसी से भी नहीं मिलते। बाहरी दुनिया से इनका कोई संपर्क नहीं है। प्रकृति इन्हें जो कुछ खाने के लिए दे देती है, उससे

ये लोग संतुष्ट हो जाते हैं। थोड़ा बहुत ये लोग खेती-बाड़ी और पशु-पालन का काम कर लेते हैं। आप देख ही रहे हैं कि इनके शरीर पर पूरे कपड़े भी नहीं हैं।⁵ ये लोग भारतीय समाज के अभिन्न अंग हैं। इन्हें छोड़कर भारत की प्रगति का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता।

श्रवणकुमार गोस्वामी ने आजादी के पच्चीस वर्षों में भारतीय संस्कृति और त्यौहारों के प्रति गहरी आस्था का उल्लेख किया है। दिवाली, होली, दशहरा, रामलीला आदि त्यौहारों का वर्णन किया है। आस्था के इस केन्द्र को देखकर जैक हैरान हो जाता है कि भारत ने इन पच्चीस वर्षों में जो प्रगति की है, वह सांस्कृतिक पक्ष से जुड़ी हुई है। जैक देखता है कि गाँवों में होली की धूम मची हुई है। इन त्यौहारों के प्रति गहरी संवेदना व्यक्त करते हुए लेखक कहता है कि -“होली है! होली है! -यह कहकर लोगों ने ढोल, टीन, बाँसुरी, झाल, चिमटा, सीटी, हारमोनियम आदि एक साथ संगीत के सभी नियमों का उल्लंघन करते हुए बजाना प्रारंभ कर दिया। इन दृश्यों का आनंद उठाते हुए हम गाँव के मंदिर में पहुँच गये। मंदिर के सामने ही एक बड़ा सा-तालाब है। तालाब के किनारे-किनारे वृक्ष लगे हुए हैं। एक पेड़ के नीचे हम बैठ गये। थोड़ी देर के बाद हमने स्नान किया। देखते- ही -देखते तालाब में स्नान करने वालों की संख्या बढ़ने लग गयी। लोगों के शरीर से इतना अधिक रंग घुल रहा था कि यदि लोग इसी तरह आते रहे, तो तालाब का पानी भी रंगीन हो उठेगा।”⁶ इससे यह स्पष्ट होता है कि त्यौहारों को लेकर लोगों के मन में कितना उत्साह भरा रहता है।

समग्रतः कहा जा सकता है कि ‘भारत बनाम इंडिया’ एक ऐसा उपन्यास है, जो ग्रामीण एवं शहरी जीवन की यथार्थ तस्वीर है। इन पच्चीस वर्षों में गाँव एवं शहर भिन्न होते हुए भी एक हैं। गाँव और शहर अलग-अलग रहकर कभी विकास नहीं कर सकते। भारत की प्रगति के लिए गाँव एवं शहर दोनों का संतुलन बहुत ही जरूरी है। इसलिए लेखक ने इस उपन्यास में गाँव और शहर दोनों का अंतः संबंध प्रतीकात्मक रूप में दिखाने का प्रयास किया है।

संदर्भ सूची :

1. भारत बनाम इंडिया -श्रवणकुमार गोस्वामी -पृष्ठ -21
2. वही, पृष्ठ - 24, 3. वही, पृष्ठ - 86
4. वही, पृष्ठ - 73, 5.वही, पृष्ठ - 83
6. वही, पृष्ठ - 132

हिंदी विभाग,

लक्ष्मण देवराम सोनावणे महाविद्यालय, कल्याण।



बहुआयामी जीवन की एकांकी : सोमा

डॉ. सतीश पांडेय

विषयगत वैविध्य और प्रभावी शिल्प में रोचक कथा की प्रस्तुति श्रवणकुमार गोस्वामी की संपूर्ण रचनाधर्मिता का स्थायी तत्व है। कथा साहित्य के साथ-साथ नाटक, एकांकी या प्रहसन जैसी विधाओं में उनकी सक्रियता विषयानुकूल शैल्पिक चयन और अभिव्यक्ति का ही परिणाम है। एकांकी संग्रह 'सोमा' में भी विषयों की यही विविधता दिखाई देती है। इसमें एक तरफ आधुनिकता और शहरी आकर्षण के कारण स्वार्थपूर्ण बदलते पारिवारिक संबंधों का छल-छद्म प्रस्तुत हुआ है तो दूसरी तरफ महाजनी व्यवस्था के शोषण और अत्याचार से पीड़ित अंतिम पायदान पर खड़े व्यक्ति की पीड़ा व्यक्त हुई है। यहाँ स्वाभिमान से लबरेज और प्रतिशोध की भावना से भरे पृथ्वीराज की शब्दभेदी बाण चलाने वाली ऐतिहासिक घटना भी है तो मानवीय क्षमता एवं श्रम की महत्ता स्थापित करने वाला गुरु नानक - लालो प्रसंग भी है। उच्च शिक्षा के बाद गाँव की ओर लौटने का आह्वान, तस्करी और पुलिस की सजगता, आदिवासी जीवन में सच्चाई के प्रति निष्ठा और पर्यावरण संतुलन तथा प्रकृति-रक्षा के लिए प्राण देने की तत्परता जैसे विषयों को इसमें बड़ी शिद्दत के साथ व्यक्त किया गया है।

पहली ही एकांकी 'फूल गुलाब के काँटे बबूल के' में लेखक ने अंग्रेजी माध्यम की शिक्षा और संस्कृति को आज के नैतिक पतन का मूल कारण माना है। यह एकांकी दफ्तर के सबसे पुराने कर्मचारी रामधन बाबा के रिटायरमेंट के कार्यक्रम से शुरू होती है। रामधन अपने बेटे को पढ़ा-लिखाकर आई.ए.एस. बनाते हैं किंतु रिटायरमेंट के बाद वे जब नई दिल्ली उससे मिलने जाते हैं तो बेटा लाल और उसकी बहू पामेला उन्हें पहचानने से इंकार कर देते हैं। नौकरों के बगल वाली कोठरी में उन्हें टिका दिया जाता है। लाल का बेटा विजय अपने दादा-दादी के बारे में जानना चाहता है किंतु पामेला उसे डाँट देती है। रामधन अपने उस सपने को कोसता है, जब उसने अपने बेटे को इंग्लिश मीडियम स्कूल में पढ़ाने और ऊँचे ओहदे पर पहुँचाने का निश्चय किया था। अपमानित रामधन और उनकी पत्नी अपने गाँव लौट आते हैं, लेकिन जब उनके बेटे-बहू को पता चलता है कि रामधन की पंद्रह लाख की लॉटरी लग गई है तो वे लोभवश उन्हें दिल्ली ले

जाने के लिए बुलाने गाँ आते हैं। इसके विपरीत रामधन उस पैसे से एक ऐसा विद्या मंदिर बनाना चाहता है, जहाँ अपनी संस्कृति से परिचित कराया जाता हो। उन्हें समझ में आ जाता है कि बबूल के काँटे रोपकर हम गुलाब के फूलों की अपेक्षा नहीं कर सकते।

पारिवारिक संबंधों में आपसी कलह और स्वार्थ पर टिके संबंधों का छल-छद्म 'इंतजार' एकांकी में भी व्यक्त हुआ है। यहाँ घर का सबसे बुजुर्ग सदस्य बलराम रोज शराब पीने का आदती है। माँ होते हुए भी जानकी अपने ही बेटे नरेंद्र के झगड़े से तंग आकर उसे घर से निकलवाना चाहती है। नरेंद्र दिन भर घूमता रहता है और देर रात आने पर सबसे झगड़े करता रहता है। नरेंद्र की बहनें-मालती और कुसुम पढ़ाई-लिखाई छोड़ कर आपस में लड़ती रहती हैं जिससे घर के काम ना करने पड़ें। परिवार को खर्च चलाने के लिए बड़े बेटे कुमुद के मनीऑर्डर का इंतजार रहता है। कुमुद की भावनाओं को कोई नहीं समझता इसीलिए वह दशहरे पर न आकर पैसे भेज देता है तो किसी को कोई फर्क नहीं पड़ता लेकिन कुमुद यह अनुभव करता है कि इस घर में उसका कोई इंतजार नहीं करता बल्कि हर आदमी उसके मनीऑर्डर का इंतजार करता है। इसीलिए जब वह शादी करके पटना रहने की घोषणा करता है तो सब लोग घबरा जाते हैं। अंततः इन स्वार्थपूर्ण पारिवारिक संबंधों की असलियत जानते हुए भी वह आदर्श बड़े बेटे की तरह अपना दायित्व निर्वाह करने के लिए शादी न करने की घोषणा करता है लेकिन उसकी बातें मन को भीतर तक खरोँचती चली जाती हैं- 'मैं अपने कर्तव्य मरते दम तक निबाहता रहूँगा... तुम जरा भी चिंता मत करो मैं अपनी शादी कभी नहीं करूँगा मेरा मनीआर्डर तुम लोगों को हर महीने मिलता रहेगा मैं इस घर में आऊँ या न आऊँ पर मेरा मनीऑर्डर जरूर आया करेगा।'^{१९} कुमुद का परिवार के लिए शादी न करने का यह निश्चय भारतीय परिवारों में बड़े बेटे पर परिवार का सारा बोझ लाद दिए जाने की विडम्बना को अत्यंत ही मारक ढंग से व्यक्त करता है।

पृथ्वीराज चौहान की वीरता और स्वाभिमान को चित्रित करने वाली ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य लिए एकांकी है। 'प्रतिशोध'। शहाबुद्दीन गोरी को सात बार पराजित करने और क्षमादान करने वाले पृथ्वीराज चौहान को जब बंदी बनाकर गोरी के दरबार में पेश किया जाता है और उन्हें यह एहसास कराया जाता है कि वह महज एक कैदी हैं तो भी उनकी गर्दन और आँखें झुकती नहीं हैं। गोरी इसे बेअदबी मानता है। वह स्वीकारता है कि पृथ्वीराज ने उसे सात बार कैद किया और हर बार माफ किया। इसीलिए जब पृथ्वीराज उसकी ओर आँखें उठाकर देखते हैं तो वह पस्त-हिम्मत हो जाता है। इससे बचने के लिए वह उन आँखों को ही निकलवा लेता है। फिर भी पृथ्वीराज अपनी गर्दन उसके सामने झुकाने को तैयार नहीं होते। अंत में चंदबरदाई के कहने पर पृथ्वीराज चौहान की ध्वनि भेदी बाण चलाने की कला देखने के लिए गोरी तैयार होता है। चंद के वर्णन के आधार पर इसी कला से पृथ्वीराज भरे दरबार गोरी की हत्या कर अपना प्रतिशोध लेते

हैं। इस घटना के आधार पर जहाँ पृथ्वीराज की वीरता, दया, क्षमा और आत्मसम्मान की रक्षा करने वाली भारतीय जीवन शैली व्यक्त हुई है, वहीं गोरी और उसके दरबारियों के माध्यम से अमानवीयता की हद तक क्रूरता का प्रदर्शन करने वाली अमानवीय संस्कृति भी उजागर हुई है।

नानक की जीवन-दृष्टि को आधार बनाकर लिखी गई 'सूखी रोटी' एकांकी में सच्चाई, ईमानदारी और परिश्रम से कमाई गई सूखी रोटी को शोषण-अन्याय से प्राप्त पकवानों की तुलना में श्रेष्ठ माना गया है। साथ ही, मानव धर्म को सर्वोपरि बताया गया है। नानक देव अपने सेवक मरदाना के साथ लालो के घर रुकते हैं। मरदाना एक मुस्लिम परिवार में जन्म लेने वाला किंतु उनके विचारों से प्रभावित उनका सच्चा सेवक है। इसी तरह लालो भी बढ़ई जाति का है। नानक खत्री होते हुए भी उसके घर रुकते हैं तो लालो को संकोच होता है लेकिन नानक कहते हैं कि हम सभी एक ही करतार के बनाए हुए बंदे हैं। जाति-पाँति की बात तो अज्ञानी लोग करते हैं या फिर वह करते हैं, जो यह नहीं चाहते कि सभी लोग मिलजुलकर भाईचारे के साथ रहें। यह सुनकर लालो का जातिगत संकोच मिट जाता है लेकिन भीड़ नानक के इस आचरण का विरोध करती है। नानकदेव उसे भी समझाने में सफल होते हैं कि 'वे तो सिर्फ एक मनुष्य हैं, हिंदू मुस्लिम या ऊँची-नीची जाति वाले नहीं हैं। ऊँची जाति में जन्म लेकर धिनौने काम करने वाला आदमी कभी भी ऊँचा नहीं माना जा सकता।'³ इसी तरह विधर्मी उसे कहते हैं जो ऊँच-नीच और जाति-पाँति की झूठी दीवारें खड़ी करता है और अपने स्वार्थों की पूर्ति करता है। भागो के यहाँ नानक इसीलिए खाना नहीं खाना चाहते क्योंकि उसकी आमदनी शोषण-अन्याय से अर्जित है। उन्हें उसमें गरीबों का खून दिखाई देता है। भागो इस तथ्य को अनुभव कर प्रायश्चित्त करने के लिए तत्पर होता है। इस तरह यह एकांकी नानक देव के मानवीय समता के आदर्श को प्रतिष्ठित करती है। इस एकांकी के संवाद कहीं-कहीं लंबे और नीरस भी हैं लेकिन भावों की सरलता इन्हें संप्रेषणीय एवं बोधगम्य बना देती है।

'हीरा और हीरा' सामंती शोषण को व्यक्त करती एकांकी है। हीरा नाम के बैल के आने पर उसकी देखरेख करने वाले हीरा का नाम बदलकर हीरवा रख दिया जाता है। उसके लिए अलग कोठरी, खाने-पीने का बढ़िया इंतजाम, चाँदी की घंटी, चंदन, तिलक सब का इंतजाम होता है। इसीलिए हीरवा सोचता है कि 'भगवान हमरीन को आदमी नई बनाके बैले बना देते तो जादा बढ़िया था।'³ यही नहीं हीरवा अपनी बेटी झुमकी की बीमारी में दवा लाने के लिए महाजन से दस रुपये माँगता है तो उसे दुत्कार दिया जाता है। पैसे के अभाव में उसकी बेटी झुमकी मर जाती है। यही महाजन अपने बैल की बीमारी में उसकी दवा पर पानी की तरह पैसे बहाता है। बैल साँप के काटने से मर जाता है लेकिन महाजन को लगता है कि हीरा ने उसे ज़हर दे दिया है। इसी संदेह में हीरा की इतनी पिटाई होती है कि वह दम तोड़ देता है। क्रूरता की हद यह है कि महाजन हीरवा

की लाश कोयल नदी में फेंक देने का आदेश देता है। हीरवा की पत्नी बुधनी उसकी लाश को कोयल नदी में न फेंकने का अनुरोध करती है तो महाजन का जवाब है- 'अपने मरद की तुलना हमारे हीरा से करती है? कहाँ हमारा हीरा और कहाँ तेरा हीरवा?'^४ महाजन का यह वाक्य सामंती शोषण और अन्याय के बीच अमानवीयता की पराकाष्ठा को उजागर कर जाता है।

ऐसी ही अमानवीयता को 'सोमा' एकांकी भी व्यक्त करती है। कथा-नायक सोमा अन्य आदिवासी युवकों की भाँति प्रकृति और संगीत का सच्चा पुजारी है। इसके संगीत में प्रकृति का सौंदर्य बसता है। वह प्रकृति से तो प्रेम करता ही है, बाँसुरी बजाने में भी उसे महारत हासिल है। उसकी बाँसुरी सुनकर तमाम खरगोश जमा हो जाते हैं। बिरसी इन खरगोशों को बेचना चाहती है लेकिन सोमा उन पर अपनी ममता बिखेरता है। उसके संगीत को ख्याति और सम्मान दिलाने के लिए राजा साहब और प्रेमा उसे शहर ले जाना चाहते हैं लेकिन वह मना कर देता है। उसका कहना है कि 'बाँसुरी तो ई जंगल हमसे बजवाता है। हम तो कुच्छो नई करता है। हम खाली जंगल का नकल करता है। हियाँ का पेड़, हियाँ का पउधा, हियाँ का नदी, हियाँ का नाला, हियाँ का पहाड़ एही लोग तो संगीत को जन्म देता है। जब सहर में जंगले नई है तो सोमा हुआँ का करेगा?'^५

ऐसा प्रकृति-प्रेमी सोमा दो लोगों को पेड़ काटते देखकर उन्हें अपने तीर-धनुष का निशाना बना देता है। उनका खून करने के अपराध में वह पुलिस में आत्मसमर्पण कर देता है। राजा साहब, प्रेमा और अन्य लोग उस पर लगे आरोप को नरम कराना चाहते हैं लेकिन वह अपनी बात पर अडिग रहता है। झूठ नहीं बोलता। पर्यावरण-संतुलन के लिए जंगल और वहाँ की जमीन से उसका लगाव तथा पेड़ों के लिए अपने प्राणों का बलिदान, पर्यावरणविदों के लिए एक चुनौती है। ऐसे सच्चे ईमानदार सोमा का होना आज के समय की माँग है। यह एकांकी अपनी नाटकीयता और अभिनय कला की दृष्टि से उत्कृष्ट है।

आज शहरों, महानगरों के प्रति आकर्षण बढ़ता जा रहा है। शहरी चकाचौंध और सुख सुविधाएँ छोड़कर गाँव में लोगों की सेवा करने का डॉक्टर लखन का निर्णय गाँव के लिए सौभाग्य की बात ही हो सकती है। यद्यपि इसके लिए डॉक्टर लखन को विरोध का सामना भी करना पड़ता है लेकिन अपने निश्चय पर वे अडिग रहते हैं। वास्तव में आज के भारतीय गाँवों को डॉक्टर लखन जैसे सच्चे समाजसेवियों की जरूरत है। ऐसे चरित्र बड़ी कठिनाई से मिलते हैं। वस्तुगत वैविध्य की दृष्टि से 'कलम के दो सिपाही' एकांकी भी उल्लेखनीय है। फैंटेसी शैली में प्रेमचंद और कथाकार राधाकृष्ण परलोक में मिलते हैं। उनकी आपसी बातचीत से न सिर्फ स्वतंत्र भारत का राजनीतिक यथार्थ तथा आम आदमी और किसान-मजदूर की वास्तविकता का परिचय मिलता है बल्कि

साहित्य और लेखन जगत का छल-छद्म और फिल्म जगत की असलियत भी उजागर होती है। इस एकांकी की भाषा व्यंग्यात्मक है, जिससे लेखक की वैचारिकता भी प्रकट हुई है। इसमें आजादी के बाद 'स्वतंत्र भारत' और 'इंडिपेंडेंट इंडिया' का अंतर बखूबी स्पष्ट किया गया है। किसानों की स्थिति गोदान के होरी से भी बदतर होती जा रही है। लेखक मानता है कि होरी के नाम पर लोग लाखों की संख्या में एकत्र होते हैं लेकिन होरी और झुनिया तो वहीं रहते हैं। गोबर भी गोवर्धन नहीं बन पाता। जहाँ तक लेखकों के चरित्र में बदलाव की बात है, आज पीतल को सोना और काँच को कंचन कहलाते हुए देखा जा सकता है। आज कौए को कोयल से स्पर्धा करते हुए भी देखा जा सकता है। फिल्मों में वही लेखक टिक सकता है जो अंग्रेजी फिल्मों को देख-देख कर भानुमती का कुनबा तैयार कर सके।

इस तरह ये एकांकियाँ अपनी विषयगत विविधता लिये हुए तो हैं ही, संप्रेषणीयता में भी विशिष्ट हैं। वस्तु के अनुरूप भाषा का चयन गोस्वामी जी की संपूर्ण रचनाधर्मिता की खास विशेषता रही है। एक तरफ ऐतिहासिक आध्यात्मिक विषयों के अनुरूप फारसी बहुल या तत्सम प्रधान भाषा प्रयुक्त हुई है तो दूसरी ओर कुछ एकांकियों में परिवेश के अनुरूप ग्रामीण भाषा का प्रयोग भी किया गया है। कहीं-कहीं व्यंग्यात्मकता के साथ-साथ संवादों का चुटीलापन इन एकांकियों को पठनीयता और मंचन दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण बना देता है।

संदर्भ :

1. सोमा, पृ. 61-62
2. सोमा, पृ. 126
3. सोमा, पृ. 105
4. सोमा, पृ. 115
5. सोमा, पृ. 156

अध्यक्ष, हिंदी विभाग
के. जे. सोमैया कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय
विद्याविहार, मुंबई।
■ ■ ■

समय के बहाने समय को व्यक्त करता नाटक

डॉ. प्रवीण चंद्र बिष्ट

नाटककार अपने जीवंत नाटकीय पात्रों द्वारा ही समय के अनुकूल निजी अनुभवों, मौलिक जीवन दृष्टि, लोक व्यवहार और युगीन संवेदना का परिचय देता है। नाटककार जीवन का व्याख्याता होता है और इसके लिए वह मानवीय चरित्रों को सशक्त माध्यम बनाता है। चरित्र और चरित्र-सृष्टि नाटक के मूलभूत अंग के रूप में स्वीकार्य हैं। चरित्र सृष्टि केवल चरित्र-चित्रण मात्र नहीं होता। उसमें सृजन की प्रक्रिया में वे भी उपादान आते हैं जिनके बीच से प्रत्येक कृतिकार को गुजरना पड़ता है। इस प्रकार नाटककार स्रष्टा है और चरित्र-सृष्टि उसकी मानस संतान।

स्वातंत्र्योत्तर युग में इतिहास और मिथक की भाँति ही कुछ अन्य विषयों को लेकर भी नाटकों को लोकप्रियता मिली है। इनमें स्त्री-पुरुष संबंध, सत्ता और शासक के प्रति आक्रोश एवं विद्रोह, नई सामाजिक परिस्थितियों और विघटनशील प्रवृत्तियों के कारण कई विकृतियाँ आई हैं। जिनकी सशक्त अभिव्यक्ति मोहन राकेश, लक्ष्मीनारायण लाल, रमेश बक्षी, मुद्राराक्षस, मन्नू भंडारी, मृदुला गर्ग, शांति मेहरोत्रा, हमीदुल्लाह तथा श्रवण कुमार गोस्वामी आदि के नाटकों में हुई है।

वर्तमान दौर में मनुष्य बड़े ही असमंजस की स्थिति में जी रहा है। वह समाज के लोगों के दोहरे व्यक्तित्व से असंतुष्ट है। जिसके चलते व्यक्ति का व्यक्ति पर से विश्वास कम होता जा रहा है। इसका सबसे महत्वपूर्ण कारण व्यक्ति का दिन-प्रति-दिन स्वार्थी तथा स्वकेन्द्रित होना है। आज तथाकथित प्रगतिशील व्यक्ति समाज के बीच अपने स्वार्थ को साधने के लिए बड़े-बड़े मंचों से कुछ प्रगतिशील विचारों की घोषणा करता है लेकिन जब यही विचार इनसे संबद्ध होकर इनके जीवन में प्रवेश करने की कोशिश करता है तब ये ही उन्हें स्वीकृति देने से कतराने लगते हैं। इसी बात को 'समय' नाटक के फ्लैप पर इस प्रकार अभिव्यक्ति दी गई है -- 'समय को बदल डालने की जो लोग ठेकेदारी करते हैं, जब नव युग उनके ही दरवाजे पर दस्तक देता है तो उस दस्तक को सुनना भी उनके लिए दुष्कर हो जाता है। एक ओर समय के बदलते हुए तेवर से समझौता करना ऐसे लोगों की विवशता हो जाती है, तो दूसरी ओर उनका मिथ्या अहं और समय के घात-प्रतिघात के बीच से यह सत्य उभरता है कि 'समय' के समक्ष सबने घुटने टेके हैं...।'

‘समय’ नाटक मूल रूप से समाज के उस वर्ग के अधिकारों की बात करता है जो लम्बे समय तक अपने परंपरागत व्यवसायों से जुड़ा रहा। समय की गति के साथ इनके द्वारा किए जानेवाले कार्यों को निम्नस्तर के कार्यों के रूप में देखा जाने लगा। जिसके चलते समाज का भी इस वर्ग को देखने का नजरिया बदलने लगा और यह वर्ग अन्य वर्गों के शोषण का शिकार बनता चला गया। समाज की यह स्थिति हमारे साहित्यकारों व समाज सुधारकों के चिंता का विषय बन गयी। इन्होंने इस वर्ग को मुख्यधारा में लाने का संकल्प लिया और इन्हें कुछ हद तक सफलता भी मिली, जिसे सन् 1998 में प्रकाशित ‘समय’ नाटक के पच्चीस दृश्यों में देखा जा सकता है। श्रवणकुमार गोस्वामी ने इस नाटक में दलित वर्ग के प्रतिनिधि मधुकर चौधरी व ‘सांसद’ ठाकुर रतन प्रकाश सिंह के माध्यम से समाज की स्थिति को उकेरने का प्रयास किया है।

लोकतंत्र में समाज के संरक्षण व उसके संपूर्ण विकास की जिम्मेदारी नेताओं के हाथों में होती है। वे प्रशासनिक अधिकारियों के सहयोग से सामाजिक ढाँचे को सुदृढ़ करने के लिए प्रतिबद्ध होते हैं। किन्तु दुर्भाग्य यह है कि आज हमारी संपूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था नेताओं के हाथ की कठपुतली बनी हुई है। वे चाहें तो देश को शिखर तक पहुँचा सकते हैं अथवा रसातल तक। इस नाटक के पात्र ‘सांसद’ ठाकुर रतन प्रकाश सिंह अपने क्षेत्र के सच्चे नेता, विद्वान, गरीबों के मसीहा तथा सामाजिक व राजनीतिक समस्याओं को लेकर सदैव चिंतित रहने वाले नेताओं में गिने जाते हैं। आज मंत्री जी जाति-विरोधी सम्मेलन को संबोधित करने के लिए जनता महाविद्यालय के राजनीति विभाग में मुख्य अतिथि के रूप में उपस्थित हैं। उन्हें समाज को जात-पाँत मुक्त कैसे किया जाय, इस विषय पर अपना वक्तव्य देना है। जनता महाविद्यालय के कुलपति व राजनीति विभाग के विभागाध्यक्ष व बच्चों की अपेक्षा है कि ठाकुर साहब ऐसा कोई गुर दें जिस पर चलकर हमारा समाज जात-पाँत के अभिशाप से मुक्त हो सके। ठाकुर साहब भी इस बात को स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि ‘जो जातिविरोधी सम्मेलन यहाँ होने जा रहा है, वह आज की सबसे बड़ी जरूरत है। देश में भयंकर गरीबी है। गरीबी एक विकराल समस्या है। पर, मेरी नजर में जात-पाँत की समस्या गरीबी से भी बड़ी समस्या है।’ (समय, पृ. १०, ११) नाटककार ने ठाकुर के माध्यम से देश के राजनेताओं की मानसिकता पर करारा व्यंग्य ही नहीं किया है बल्कि उसे अभिव्यक्ति भी दी है; जो भली-भाँति यह जानते हैं कि गरीबी देश की सबसे विकट समस्या है लेकिन अपना उल्लू साधने के लिए वे जात-पाँत को उससे बड़ी समस्या बताने में संकोच नहीं करते।

अंतरजातीय विवाह को लेकर भी भारतीय समाज दिन-प्रतिदिन सजग होता नजर आ रहा है। इसको लेकर भी अनेक कोण हमारे सामने आते हैं। एक तो इसके तहत वे लोग आते हैं जिनकी विद्यार्थी जीवन की आपसी घनिष्ठता चरम शिखर तक पहुँच जाती है; जिसे हम प्रेम कहते हैं। ऐसे प्रेमियों को न तो परिवार के लोग ही रोक पाते हैं और न

ही समाज। वकील भार्गव मधुकर से कहता है- 'मैंने तुम्हारी चाची से पैंतीस साल पहले प्रेम विवाह किया था। मैं ठहरा ब्राह्मण और तुम्हारी चाची ठहरी ईसाई। जरा कल्पना करो कि कितना बवंडर उठा होगा उस समय? मेरे घरवालों ने मुझे घर से निकाल बाहर किया था। मुझे जाति से भी निकाल दिया गया था। तेरी चाची को भी इसके घरवालों ने घर से बाहर कर दिया था क्योंकि इसने एक हिंदू से विवाह करने का पाप किया था। क्या हुआ उससे? क्या हम दोनों मर गए? क्या हम दोनों का अस्तित्व खत्म हो गया? क्या हमारी इज्जत धूल में मिल गयी?' (समय, पृ. 33)

दूसरे दफ्तरों में एक साथ कार्य करते हुए एक दूसरे के व्यवहार को अपने अनुकूल पाने पर प्रेम की स्थिति उत्पन्न होती है। तीसरे वे लोग हैं जो जीवन में प्रत्येक वर्ग के लोगों को समान दृष्टि से देखते हैं। वे अपने जीवन का निर्णय स्वयं लेने की क्षमता रखते हैं। उसके निर्णयों में परिवार के लोग कभी भी हस्तक्षेप नहीं करते। मुझे नहीं लगता कि उक्त स्थितियों के अलावा जबरदस्ती कोई कानून बनाकर या फिर किसी भी तरह के प्रलोभन से अंतरजातीय विवाह के उद्देश्य को पूरा किया जा सकता हो। लेकिन हमारे राजनेता व सांसद अपना स्वार्थ साधने के लिए खुले मंचों से समाज को भ्रमित करने के लिए बड़ी-बड़ी घोषणाएँ करने में संकोच नहीं करते। 'समय' नाटक के 'सांसद' ठाकुर साहब जनता विश्वविद्यालय के बच्चों को संबोधित करते हुए कहते हैं- 'जो अंतरजातीय विवाह करेगा उसे पच्चीस हजार रुपये का नकद इनाम दिया जायेगा और योग्यता के अनुसार उसे सरकारी नौकरी भी दी जाएगी। बस शर्त इतनी-सी है कि यदि लड़का ऊँची जाति का है, तो उसे किसी पिछड़ी या अनुसूचित जाति की लड़की से ब्याह करना होगा। अगर लड़की ऊँची जाति की है, तो उसे पिछड़ी जाति या अनुसूचित जाति की किसी लड़के से शादी करनी होगी।' (समय, पृ.12) यहाँ नाटककार अप्रत्यक्षतः संकेत करता है कि हमारे देश में न तो आर्थिक कमी है और न ही बेरोजगारी जैसी कोई समस्या। हमारे सांसदों, मंत्रियों व मुख्यमंत्रियों ने आर्थिक कमी और बेरोजगारी जैसी स्थितियाँ ईजाद की हैं। तभी तो ठाकुर साहब पूरे विश्वास के साथ कहते हैं- 'जो कोई भी अंतरजातीय विवाह करेगा, उन्हें मैं पुरस्कार की राशि चौबीस घंटों के अंदर दिलवाऊँगा और सरकारी नौकरी अड़तालीस घंटों के भीतर।' (समय, पृ.12) लेकिन जब स्वयं ऐसे नेताओं व व्यक्तियों के घरों में इस तरह की स्थितियाँ खड़ी हो जाती हैं तब इनका यह आदर्शवाद धरा का धरा रहा जाता है। इसीलिए भानुजा अपनी माँ मीरा से कहती है- 'कैसे होते हैं वे बाप जो अपनी बेटी व उसके सुहाग की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व लुटा देते हैं, पर अपनी बेटी या दामाद पर किसी तरह की कोई आँच तक नहीं आने देते हैं। मैं ठाकुर रतन प्रकाश सिंह की इकलौती बेटी हूँ? फिर भी कितनी अभागिन हूँ... मेरे बाप ने ही अपने हाथ से मेरे माथे पर लगी बिंदिया मिटा डाली है।' (समय, पृ. 47)

इन स्थितियों को देखकर भार्गव कहता है --- अगर अंतरजातीय विवाह करना

अपराध है, तो फिर ठाकुर क्यों जात-पाँत तोड़कर अंतरजातीय विवाह करने के लिए जवान लड़के और लड़कियों को बहकाता है।' (समय, पृ. 52) ठाकुर की बेटी भानुजा का दलित प्रेमी भली-भाँति जानता है। वह भानुजा से कहता है- 'भाषण और जीवन में बड़ा अंतर होता है। आज के नेता बोलते वही हैं, जो वे करते नहीं और जो वे करते हैं, उसे वे कभी नहीं बोलते।' (समय, पृ. 17) इस तरह की घोषणाएँ करने वाले लोग समाज के लोगों के बीच सिर्फ दूरियाँ बढ़ाने का काम करते हैं।

हमारे यहाँ व्यक्ति की पहचान, उसके रंग रूप आचार-विचार से नहीं होती बल्कि उसकी जाति और धर्म के आधार पर होती है। इस वर्ण व्यवस्था के अंतर्गत विविध जातियाँ हैं जो अपने रहन-सहन, खान-पान, अचार-व्यवहार तथा भिन्न संस्कृति आदि के धरातल पर भिन्नता लिए होती हैं। इसी के आधार पर इन जातियों की अपनी कुछ सीमाएँ होती हैं जिनके दायरे में रहकर इनके अपने कुछ सांस्कृतिक व धार्मिक रीति-रिवाज चलते हैं। लेकिन कुछ जातियाँ सभी वर्गों में होने के कारण कभी-कभी बड़ी असमंजस की स्थिति उत्पन्न कर देती हैं। इसीलिए ठाकुर मधुकर से कहता है- 'तुम्हारा यह चौधरी बड़ा गड़बड़ पैदा कर रहा है; क्योंकि चौधरी ब्राह्मण भी होते हैं और ठाकुर भी। वैश्यों में भी चौधरी होते हैं और शूद्रों में भी (सँभलते हुए) --- नहीं, नहीं, अब शूद्र नहीं कहना चाहिए। मतलब चौधरी एस. सी. भी होते हैं।' (समय, पृ. 23)

समाज में शांति व्यवस्था को सुचारू रूप से बनाए रखने के लिए पुलिस प्रशासन को जिम्मेदारी दी जाती है। सामान्यतः किसी भी जिम्मेदारी को निभाने के लिए स्वतंत्रता और विश्वास की आवश्यकता होती है। लेकिन हमारे राजनेता पुलिस प्रशासन को भी अपने हाथ की कठपुतली बनाकर रखना चाहते हैं। 'समय' नाटक में भी ठीक इसी तरह की स्थिति का निर्माण होता दिखाई देता है। जब कोतवाल ठाकुर की हवेली की तलाशी लेने आता है तब ठाकुर कोतवाल से कहता है- 'पर जाते-जाते तुम यह भी सुन लो कि ठाकुर रतन प्रकाश सिंह के सामने अपनी औकात भूलकर तुमने जो अपनी जुबान हिलाने की जुर्रत की है, तुम्हें इसकी कीमत चुकानी ही पड़ेगी।' (समय, पृ. 60) परिणामतः कोतवाल का तबादला हो जाता है। इस तरह नेता व समाज के ताकतवर लोग पूरी व्यवस्था को अपने अनुकूल चलाने का प्रयास करते हैं। जिससे संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था चरमराकर रह जाती है। इसीलिए कोतवाल भार्गव से कहता है- 'आजादी के बाद हमारे मालिक हमारे अफसर नहीं रह गए हैं। हमारे और हमारे अफसरों के मालिक बन गए हैं राजनीतिज्ञ।' (समय, पृ. 62)

हमारे समाज का शोषित-पीड़ित कहा जाने वाला दलित वर्ग पर्याप्त सुख-सुविधाएँ मिलने के बावजूद आजादी के सत्तर साल बाद भी उबर नहीं पाया है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या इस वर्ग ने इन सत्तर वर्षों में कोई विकास नहीं किया? उत्तर; मिलता है विकास किया है। आज देश के शीर्ष पद तक इस वर्ग ने अपनी पहुँच बना ली है फिर

भी इस वर्ग की लगभग सत्तर प्रतिशत लोगों की दशा ज्यों की त्यों बनी हुई है। दुःख की बात यह है कि इस वर्ग के समृद्ध लोगों द्वारा अपने ही वर्ग के लोगों की मदद करना तो दूर; वे इनके बीच जाकर थोड़ा समय बिताना भी अपना अपमान समझने लगे हैं। यह कोई नई बात नहीं है। समाज का उच्च वर्ग हमेशा से निम्न वर्ग के साथ इसी तरह का व्यवहार करता आया है। ठीक इसी प्रकार की स्थिति 'समय' नाटक में देखने को मिलती जहाँ पासवान मुख्यमंत्री से कहता है- 'मैं तो इस लड़के को बहुत उम्मीद से आपके पास लेकर आया था। चूँकि आप भी हरिजन हैं, इसलिए मुझे उम्मीद थी कि आप इसकी जरूर मदद करेंगे लेकिन आपने तो उसका दिल ही तोड़ दिया।' वह कट्टू वाली कहावत सुनाकर अगर आप भी इसी तरह सोचेंगे एक हरिजन होकर तो हरिजनों के कल्याण के बारे में अखिर कौन सोचेगा?' (समय, पृ. 70) और आवश्यकता पड़ने पर अपने लाभ के लिए ये लोग ही इनका दोहन करने में थोड़ा भी संकोच नहीं करते।

निष्कर्षतः दलित वर्ग का दलित होना अभिशाप नहीं है बल्कि उससे भी बड़ा अभिशाप उनका गरीब होना। यदि हमारी सरकारों द्वारा खैरात में इस वर्ग पर पैसा लुटाने की अपेक्षा इनके बच्चों की शिक्षा की उचित व्यवस्था हेतु पैसा खर्च किया जाता तो शायद इनकी स्थिति में क्रांतिकारी परिवर्तन देखने को मिलता और साथ ही समाज की मानसिकता अपने आप ही इस वर्ग को लेकर बदलने लगती। इसी संबंध में 'समय' नाटक के मुख्य पात्र मधुकर के आई. ए. एस. बनने पर ठाकुर के व्यवहार में मधुकर को लेकर आने वाले परिवर्तन के बारे में भार्गव कहते हैं- 'ये बड़े लोग आदमी को गटर के कीड़े से भी बत्तर मानते हैं, मगर जब उन्हें गटर के कीड़े में सोने की झलक मिल जाती है, तब वे गटर के कीड़े को भी अपने माथे पर बिठाने के लिए तैयार हो जाते हैं।' (समय, पृ. 99) अब इस बात पर भी विचार करना आवश्यक है कि हमारे समाज में कीड़े की तरह जीवन बिताने वाला केवल दलित वर्ग ही नहीं है बल्कि अन्य जातियों में भी गलाजत का जीवन व्यतीत करने वाले लोगों की कमी नहीं है। हमारी सरकारों द्वारा इस तरह के लोगों को अन्य तरह की आर्थिक सुविधाएँ न देकर इनके बच्चों की शिक्षा के लिए पहली से पाँचवीं तक प्रति माह पाँच हजार रुपये तथा पाँचवीं से स्नातक होने तक दस हजार रुपये प्रति माह का प्रावधान कर देना चाहिए और शर्त यह रख देनी चाहिए कि जब तक ये बच्चे स्कूल व महाविद्यालयों में जाते रहेंगे तब तक उन्हें यह सुविधा दी जाएगी। जिस दिन इस तरह की योजनाएँ सरकार द्वारा लागू कर दी जाएँगी। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि देश से पूर्णतः गरीबी व दरिद्रता को जड़ से मिटने में मात्र बीस साल लगेगे और समाज में प्रत्येक वर्ग का एक-दूसरे के प्रति आदर भाव अपने आप ही निर्मित हो जाएगा तथा नाटककार की चिंता का भी समाधान हो जाएगा।

अध्यक्ष, हिंदी विभाग

रामनारायण रुइया स्वायत्त महाविद्यालय, माटुंगा, मुम्बई-400019.



बात बोलेगी भेद खोलेगी...

डॉ. वैशाली दबंगे (खेडकर)

सबसे खतरनाक होता है
मुर्दा शांति से भर जाना
तड़प का न होना सब सहन कर जाना
घर से निकलना काम पर और काम से लौटकर घर जाना
सबसे खतरनाक होता है
हमारे सपनों का मर जाना।^१

सुप्रसिद्ध कवि पाश की उपर्युक्त पंक्तियाँ मनुष्य के निरुद्देश्य एवं निराशापूर्ण जीवन की भयावहता को दर्शाती हैं। सपने मनुष्य को क्रियाशील बनाते हैं। उसमें उत्साह, उमंग एवं उर्जा भरते हैं। अतः 'सपनों का मर जाना' मनुष्य के लिए सबसे चिंतनीय स्थिति है। जैसे, मनुष्य के विकास में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक आदि सभी परिस्थितियाँ सहयोग करती हैं। अतः एक सजग व्यक्ति अपने विवेकवादी दृष्टि से इनमें घटित गलत कार्यों पर निरंतर हस्तक्षेप करता है। यथाशक्ति इनमें सुधार लाने का प्रयत्न करता है। दरअसल हर बार जीतना ही महत्वपूर्ण नहीं होता बल्कि निरंतर व्यवस्था से लड़ते रहना भी मायने रखता है। किंतु धीरे-धीरे मनुष्य स्वार्थ में अंधा होकर अपने सामाजिक दायित्व को भूलता जा रहा है। तभी तो वह मनुष्य से यंत्र में परिवर्तित हो रहा है। उसके जीवन में मानो 'मुर्दा शांति' ही छा गयी है। आज समाज में बेरोजगारी, आतंकवाद, बलात्कार, भ्रष्टाचार, आर्थिक विषमता, धर्मांधता आदि कई समस्याएँ हैं, जिनमें निरंतर बढ़ोत्तरी ही हो रही है। हम आज तक इन समस्याओं को जड़ से मिटाने में असफल रहे हैं। राजनैतिक भ्रष्टाचार एवं अनैतिक व्यवस्था से इनमें इजाफा ही हुआ है। राजनीति मनुष्य के जीवन को संचालित करती है। उसके विकास में सहयोग देती है। वही राजनीतिक व्यवस्था मनुष्य के लिए समस्या निर्माण का संसाधन बनी है। भारत में लोकतंत्र है। यहाँ हर किसी को अभिव्यक्ति, संचार, धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त है, किंतु धीरे-धीरे ये अधिकार सिकुड़ रहे हैं। आम आदमी आँख और कान बंद करने में ही धन्यता मान रहा

है। 'बोलना' वर्तमान समाज की जरूरत है, वहीं मनुष्य ने खामोशी अख्तियार कर ली है। किंतु रचनाकार कलम को हथियार बनाकर व्यवस्था से विद्रोह करता है। हिंदी में कबीर से लेकर वर्तमान समय तक के रचनाकारों ने सामाजिक परिवर्तन में अपनी भूमिका बखूबी निभायी है। इसी परंपरा में श्रवणकुमार गोस्वामी का भी विशेष उल्लेखनीय स्थान रहा है। उन्होंने अपने नाटक साहित्य से खोखली एवं भ्रष्ट राजनीति पर प्रहार किया है। 'कल दिल्ली की बारी है' नाटक इसी विषय भूमि पर आधारित है।

नाटक सबसे प्राचीन विधा है। संस्कृत साहित्य से लेकर वर्तमान समय तक तमाम भारतीय भाषाओं में नाट्य लेखन की समृद्ध परंपरा रही है। नाटक मनुष्य की अंतःप्रवृत्ति एवं मनोभावों की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम रहा है। साहित्य में यह श्रव्य की अपेक्षा दृश्य विधा के रूप में प्रतिष्ठित रही है क्योंकि नाटक की सफलता का आधार रंगमंच ही है। अतः नाटक मनुष्य जीवन और रंगमंच से समान रूप से जुड़ा है। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक रंगमंच और समकालीन यथार्थ की अभिव्यक्ति की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। मानवी जीवन के कई अनछुए पहलुओं को नाटककारों ने उठाया है। इसमें मोहन राकेश, डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल, डॉ. शंकर शेष, जगदीशचंद्र माथुर, सुरेंद्र वर्मा, हबीब तनवीर, असगर वजाहत आदि नाटककारों का उल्लेखनीय योगदान रहा है। हालाँकि श्रवणकुमार गोस्वामी नाटककार की दृष्टि से अधिक चर्चित नहीं रहे। उनके अब तक दो नाटक - 'कल दिल्ली की बारी है' और 'समय' प्रकाशित हैं। इनमें से 'कल दिल्ली की बारी है' नाटक कथ्य और शिल्प की दृष्टि से बेजोड़ है। इसमें आजादी के बाद की मोहभंग की स्थिति एवं नेताओं की स्वार्थलोलुपता पर बड़ा ही तीखा व्यंग्य किया गया है। सन् 1947 में भारत आजाद हुआ। उस समय लगा था जैसे भारत में स्थित सभी समस्याओं का अंत होगा। सभी को मनचाही जिंदगी मिलेगी। किंतु धीरे-धीरे ये सपने धुंधले हो गए और राजनैतिक यथास्थिति ने हमारी आँखें खोल दीं। अब लोगों द्वारा चुने गए नेता ही समाज का शोषण करने लगे। 'कल दिल्ली की बारी है' नाटक इसी यथार्थ स्थिति से हमें रू-ब-रू कराता है। यह नाटक सन् 1989 में (पहला संस्करण) प्रकाशित हुआ था। किंतु आज भी उतना ही प्रासंगिक है।

भारत में लोकतांत्रिक व्यवस्था है। यहाँ हर किसी को मूलभूत अधिकार प्राप्त है। जिसकी उम्र 18 या उससे अधिक है, उसे वोट देने या चुनाव में उम्मीदवार के रूप में चुनाव लड़ने का अधिकार है। किंतु अब ये अधिकार विशेष वर्ग तक सीमित हो गया है। जिसके पास पैसा और ताकत है, वही चुनाव लड़ सकता है। दरअसल हर उम्मीदवार चुनाव जीतने के लिए जनता से कई वादे करता है, किंतु जीतने के बाद वे सारे वादे झूठ साबित होते हैं। इस नाटक के पात्र नेताजी भी लोगों को ठगने का ही काम करते हैं। पिछले पैंतीस वर्षों से वे इस इलाके का प्रतिनिधित्व दिल्ली में करते आए हैं। इतने वर्षों में भी इस इलाके में कोई परिवर्तन नहीं आता। चुनाव अलग होते हैं लेकिन नेताजी का

भाषण एक जैसा ही होता है। इस बार भी नेताजी जनता को झूठा आश्वासन ही दे रहे हैं, जैसे इस बार मैं आप लोगों को वचन देता हूँ कि मैं इस इलाके को चमकाकर रख दूँगा। इस इलाके में चारों तरफ बिजली होगी, गाँव-गाँव में पीने का पानी होगा, हर गाँव में स्कूल होंगे, इस बस्ती में एक डिग्री कॉलेज होगा, एक बड़ा अस्पताल होगा, यहाँ बाजार बनाए जायेंगे, यहाँ के लोगों को रोजगार के नए अवसर दिए जायेंगे। दरअसल नेताजी पिछले पैंतीस वर्षों से सामान्य जनता को ठग रहे हैं। उन्होंने आज तक अपने वादों को पूरा नहीं किया है। इतना ही नहीं बल्कि जब से जीत मिली है, उनका बसेरा दिल्ली में ही है। यदि नेताजी अपना कर्तव्य करेंगे तो अपने आप सामान्य लोगों के जीवन स्तर में सुधार होगा। उन्हें अपने अधिकारों के लिए व्यवस्था से लड़ना ही नहीं पड़ेगा। यह स्थिति वर्तमान समय में भी दिखाई दे रही है। आज बेरोजगारी, महँगाई, आर्थिक विषमता, दंगे-फसाद आदि कितनी ही ऐसी समस्याएँ हैं जो राजनीतिक उदासीनता की ही देन हैं। यह नाटक नेताओं की इसी खोखली मानसिकता की पोल खोलता है।

वर्तमान समय में भ्रष्टाचार बेहद गंभीर समस्या बनी है। यह भारतीय व्यवस्था में दीमक की तरह है, जिसने पूरी व्यवस्था को भीतर से खोखला कर दिया है। इसके लिए केवल राजनेता या राजनीतिक व्यवस्था जिम्मेदार नहीं है, बल्कि हम भी बराबर के हिस्सेदार हैं। हम ही समयाभाव के कारण अतिरिक्त पैसे देकर काम को निपटाना चाहते हैं। दरअसल यह भ्रष्ट आचरण हमारे व्यक्तित्व की पहचान-सी बन गया है। मंदिर में दर्शन करने के लिए, बच्चों के स्कूल में प्रवेश के लिए, सरकारी व्यवस्था में जल्दी से काम निपटाने के लिए, यहाँ तक कि बच्चों को परीक्षा में अच्छे अंक मिलने पर कुछ देना रिश्वत ही है। हम सभी इस व्यवस्था के लिए जिम्मेदार हैं। यही वजह है कि भारत भ्रष्टाचार के मामले में 81वें स्थान पर आ गया है और धीरे-धीरे इसमें बढ़ोत्तरी ही हो रही है। दरअसल यह भारत की सच्ची तस्वीर है। भ्रष्टाचार ने भारतीय अर्थव्यवस्था की जड़े हिला दी हैं। इससे प्रभावित सरकार द्वारा कई कल्याणकारी योजनाएँ बंद की जा रही हैं। लेखक ने इस समस्या को भी बड़ी ही मार्मिकता से उठाया है।

भारतीय प्रजातंत्र में राजनेता की महत्वपूर्ण भूमिका है। वह लोगों का प्रतिनिधित्व करते हुए उनके इलाके की समस्याओं को सुलझाता है। किंतु वर्तमान में राजनीतिक व्यवस्था पैसा हथियाने का माध्यम-सी हो गयी है। यही वजह है आज सभी राजनेता करोड़पति (अपवाद भी मौजूद हैं) बने हैं। इतना ही नहीं उनके परिवारजनों के नाम पर भी कई जमीन-जायदाद है। इस नाटक का पात्र जनार्दन इसी सच्चाई को सामने लाता है। वह प्रोफेसर है। उसे अच्छे-बुरे की समझ है। नेताजी की झूठी दलीलों से वह वाकिफ है। तभी तो अपने भाषण में वह नेताजी की पोल खोलता है। जैसे इन पैंतीस वर्षों में उन्होंने अपने लिए अपने परिवार के लिए जो किया है, उसकी जानकारी शायद आप लोगों को नहीं है। नेताजी के बड़े बेटे के नाम से बम्बई में कपड़े की एक मिल चलती है। छोटे

बेटे के नाम से गाजियाबाद में मोटर सायकिल का एक कारखाना चलता है। नेताजी के नाम पर दिल्ली में एक होटल चल रहा है। इसके अलावा नेताजी के परिवार के सदस्यों की साझेदारी हैं- सैंकड़ों कारखानों और कंपनियों में।^{१३} ये नेताजी के पैंतीस वर्षों की जन सेवा का फल है। जिस जनता ने चुनाव में जिताया, वे तो गरीबी, बेरोजगारी, भूखमरी, अकाल से पीड़ित हैं, मात्र नेताजी की संपत्ति में उछाल-सा आया है। आज नेताजी की तरह कितने ही लोग राजनीति को पद, प्रतिष्ठा और पैसा कमाने का साधन ही मानते हैं। हर राजनीतिक दल का कोई न कोई नेता इसमें मौजूद है। कितने ही ऐसे नेता हैं, जिनकी संपत्ति में महज पाँच साल में 800 प्रतिशत से अधिक उछाल का आया है और कई भारतीयों का काला धन स्वीस बैंक में जमा है। अपनी काली करतूत को छिपाने का एक आसान रास्ता। आज तक कोई सरकार इस काले धन को भारत नहीं ला पायी है। आँकड़ों के मुताबिक स्विस बैंक में भारतीयों के कुल 6,55,223 अरब रुपए जमा है। यानी जितना धन हमारा स्विस बैंक में जमा है, वह हमारे जीडीपी का 6 गुना है।^{१४} ये आँकड़ें अचरज में डालते हैं।

भारत में चुनाव आयोग द्वारा चुनाव की प्रक्रिया पूर्ण की जाती है। चुनाव आयुक्त के निर्देशन में यह प्रक्रिया चलती है। ग्राम सभा से लेकर सांसद तक कई तरह के चुनाव होते रहते हैं। उदाहरणार्थ जिला परिषद, पंचायत समिति, विधानसभा, विधानपरिषद, संसद आदि। लोगों द्वारा चुने गये जिस पार्टी के उम्मीदवारों की संख्या अधिक है, उसे सत्ता की बागडोर थमायी जाती है। दरअसल यहीं से सत्ता-संघर्ष की शुरुआत होती है। उम्मीदवार के लिए नैतिक-अनैतिक सभी रास्ते खुले होते हैं। कभी-कभी डरा धमकाकर जबर्दस्ती वोट डालने के लिए मजबूर किया जाता है। जाति-धर्म की दलीलें दी जाती हैं और अंत में पैसों की बरसात शुरू होती है। सभी राजनेता चुनाव में करोड़ों रुपए खर्च करते हैं, जिसका कोई हिसाब नहीं होता। नाटक के पात्र नेताजी भी चुनाव में खड़े हैं और उनके विरोध में बुद्धुराम का बेटा जनार्दन (प्रोफेसर)। जनार्दन को लोगों का समर्थन प्राप्त है। लेकिन नेताजी को हर हाल में चुनाव जीतना है। अतः वे डाकू बज्जरसिंह की सहायता लेते हैं। बज्जरसिंह का खौफ पहले से ही जनता के दिमाग में है। बज्जरसिंह नेताजी के इलाके की संपूर्ण चुनाव प्रक्रिया को अपने काबू में करता है। वह पीठासीन अधिकारी से कहता है, अगर तुम ये कागज (मतपत्र) हमें नहीं दोगे तो तुम्हें यहीं गोली से उड़ा देंगे। हम तुम्हें गोली से उड़ा देंगे याने तुम्हारी बीवी बेवा हो जाएगी। तुम्हारे बाल-बच्चे भी अनाथ हो जायेंगे और यों ही भूखे मरने लगेंगे। इसलिए मामूली कागजों के लिए अपनी कीमती जान मत गँवाओ। लाओ ये सारे कागज हमें दे दो।^{१५} बज्जरसिंह सभी मतपत्र पर नेताजी के निशान पर ठप्पा लगाता है। बाद में चुनाव आयोग द्वारा नेताजी को दो लाख सत्तर हजार वोट से विजयी घोषित किया जाता है और दूसरी तरफ जनार्दन की जमानत जप्त हो जाती है। वैसे, चुनाव प्रक्रिया पारदर्शिता एवं

नियम से होनी चाहिए किंतु धीरे-धीरे इस पर भी प्रश्न चिह्न लगाए जा रहे हैं। हाल ही के कुछ चुनाव में विपक्ष द्वारा ईवीएम मशीन को संदेह के कटघरे में रखा गया था। तो फेसबुक डाटा लीक के खुलासे ने कई देशों के राजनीतिक नकाबों को बेनकाब किया। ब्रिटिश कंपनी 'कैब्रिज एनालिटिक्स' पर भी लोगों की जानकारी का गलत इस्तेमाल होने का आरोप लगाया गया है। ये घटनाएँ बताती हैं कि आज चुनाव प्रक्रिया में भी धाँधली होने लगी है। हर मतदाता को उसके वोट का मूल्य पहले ही दिया जाता है। इस प्रक्रिया में करोड़ों रुपए खर्च किए जाते हैं। सवाल है, यह पैसा आया कहाँ से और किन स्त्रोंतों से? दरअसल हर पार्टी या उम्मीदवार मतदाता को आकर्षित करने के लिए कई हथकंडे अपनाता है। जो जिस भाषा में समझे उसे उसी भाषा में समझाया जाता है। अब लोगों को भी अपने वोट की अहमियत को समझने की जरूरत है। हमें पैसों वालों को नहीं जनता की सच्ची सेवा करने वालों को चुनना होगा।

भारतीय समाज व्यक्ति पूजक है। अतः हर राजनेता का अपना विशेष क्षेत्र होता है। वहाँ के लोगों (कार्यकर्ता) का जीवन अपने इस नेता (आदर्श) के लिए ही समर्पित होता है। लोगों की इसी अंधभक्ति ने राजनीति में परिवारवाद को जन्म दिया है। भारत में कई चुनाव क्षेत्र ऐसे हैं, जहाँ की तीन पीढ़ियों ने एक ही परिवार के सदस्य को चुनाव में जिताया है। दरअसल कुछ राजनेता इस परिवारवाद के विरोध में हैं, किंतु वर्तमान स्थिति ऐसी है जहाँ परिवारवाद को खत्म करना मुश्किल है। महाराष्ट्र में प्रमोद महाजन, बालासाहब ठाकरे इसके विरोध में थे। वर्तमान में केंद्रीय मंत्री नितिन गडकरी भी इस व्यवस्था के विरोध में हैं। यदि हम समग्र भारतीय राजनीतिक परिदृश्य को समझेंगे तो यही महसूस होगा कि सत्ता की बागडोर विशिष्ट परिवार के हाथों में ही है। यही वजह है कई युवा काबिलियत के बावजूद राजनीति में नहीं आ पा रहे हैं। वैसे भी नेताओं के लिए सेवानिवृत्ति की भी आयु निश्चित नहीं है। अतः राजनीतिक लंबी पारी के बाद अपनी सियासत की बागडोर बेटे के हाथ में सौंपी जाती है। नाटक का पात्र नेताजी भी इसी मानसिकता से ग्रस्त है। वे अपने भाषण में जनता से कहते हैं, मेरी उम्र साठ से उपर हो गयी है। लेकिन आपकी सेवा के लिए मैं बराबर साठ साल का जवान बन जाता हूँ। यदि मैं मर भी गया, तो आप लोग यह नहीं समझेंगे कि मैं आपकी सेवा से विमुख हो जाऊँगा। मेरे बदले में मेरा बेटा आपकी सेवा करेगा उसके बाद मेरा पोता आपकी सेवा करेगा। कहना यह है कि हम आपके सेवक हैं और आनेवाले दिनों में भी रहेंगे।¹⁹ दरअसल नेताजी ने अपने राजनीतिक करिअर में जनता के लिए कुछ नहीं किया किंतु अपने पारिवारिक सदस्यों के लिए राजनीति का रास्ता आसान कर दिया। वर्तमान में लगभग सभी पार्टियों के नेता (कुछ अपवाद हैं) परिवारवाद से ग्रसित हैं।

भारत धर्मनिरपेक्ष देश है। यहाँ हर किसी को धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त है। भारतीय संविधान ने भारत के प्रत्येक नागरिक को अपनी इच्छानुसार जीवन पद्धति चुनने का

अधिकार दिया है। किंतु वर्तमान समय में धार्मिक असहिष्णुता बढ़ती ही जा रही है। वैसे आज तक भारत-पाक विभाजन की त्रासदी के घाव भर नहीं पाए हैं। इस सामूहिक जनसंहार में कितने ही मासूमों की मौत हुई। उस इतिहास को दोहराना गलत है। यही वजह है कि गाँव में बसी सहृदयता, संवेदनशीलता धीरे-धीरे खत्म हो रही है। गाँव भी महानगरों की चपेट में आकर अपनी एकात्म संस्कृति खो रहे हैं। एक ही धर्म के लोगों में ऊँच-नीच की वर्णभेदी मानसिकता तैयार हो रही है। और इसे सर्वाधिक बढ़ावा राजनीतिक पार्टियाँ दे रही हैं। हर पार्टी चुनाव जीतने के लिए धर्म एवं जातिगत हिसाब लगाती है। जिससे लोगों के बीच आपसी समन्वय समाप्त हो रहा है। इस नाटक में जनार्दन लोगों को इसी बात के प्रति सचेत कराता है। नेताजी जैसे लोगों ने सामान्य जनता को धर्म, जाति के नाम पर बेवकूफ बनाया है। उन्हें आपसी संघर्ष के लिए मजबूर किया है। जैसे, जनार्दन कहता है, इस इलाके की जो अपनी अच्छाइयाँ थीं, वे बहुत तेजी से खत्म होने लगी हैं। लोगों के बीच यहाँ जो आपसी प्रेम था, अब वह पहले जैसा नहीं रह गया है। अब यहाँ के लोग धर्म और जाति की बातें करने लगे हैं। लोग टोला की बातें करने लगे हैं। हमारा यह इलाका ऊँच-नीच की बातें करने लगा है। पहले यह बात नहीं थी। यहाँ के हिंदू, मुसलमान, सिख, ईसाई और दूसरे धर्म के मानने वाले बड़े प्यार के साथ आपस में रहते थे। लेकिन आज वो बात देखने में नहीं आती। दरअसल धर्म नैतिक एवं मानवीय मूल्यों की स्थापना करता है। किसी भी धर्मग्रंथ में अन्य धर्मों के प्रति ईर्ष्या या द्वेष अभिव्यक्त नहीं है। 'मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना' यही सच है। किंतु धर्म के ठेकेदारों ने धर्म की गलत व्याख्या कर लोगों के दिमाग में अन्य धर्मों के प्रति द्वेष का बीजारोपण किया है। यही वजह है लोग विवेक भूलकर धर्मांधता को अपना रहे हैं। हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई मजहबी दीवारों में कैद हो गए हैं और राजनेताओं ने इन दीवारों को अधिक मजबूत किया है। धर्म के मामले में स्त्री का जीवन अधिक दयनीय है। उसे शक्ति रूप में पूजा जाता है किंतु व्यवहार में उसका सर्वाधिक शोषण हो रहा है। आज भारत में कितने ही ऐसे मंदिर हैं जहाँ महिलाओं को प्रवेश नहीं दिया जाता है। सर्वोच्च न्यायपालिका के निर्णय के बावजूद शबरीमाला मंदिर में स्त्रियाँ प्रवेशित नहीं हुई हैं। दरअसल यह पुरुष वर्चस्ववादी मानसिकता है। राजनीति में भी यही स्थिति है। धर्म ने इसी व्यवस्था को कायम रखने में सहयोग दिया है। यही वजह है आज कोई भी राजनेता अपनी धार्मिक या जातिगत पहचान नहीं मिटा पाया है। लेखक ने इस नाटक के माध्यम से धार्मिक सहिष्णुता बनाए रखने का ही संदेश दिया है।

विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र भारत में है। 'विविधता में एकता' भारत की सबसे बड़ी विशेषता है। दुनिया के लिए यह आज भी अचरज है, भारत एक संघ कैसे है? भारत में धर्म, जाति, संस्कृति, रहन-सहन, खान-पान, भाषा, त्यौहार आदि को लेकर विभिन्नता है। इसमें एकमात्र समान सूत्र है, हमारी 'भारतीयता'। मगर यह विविधता ही

हमारी कमजोरी बनती जा रही है। राजनेताओं की स्वार्थांध प्रवृत्ति एवं महत्वाकांक्षाएँ अलगाववाद को जन्म दे रही हैं। अतः भारतीय लोकतंत्र, भारतीय संविधान एवं भारतीय एकता को बचाने का दायित्व सभी का है। राजनेताओं की इसमें प्रमुख भूमिका है। यह तभी संभव है जब काबिल एवं नयी दृष्टि के राजनेता चुनकर आएँ। लेकिन इसके लिए कोई भी पार्टी अपना कदम नहीं बढ़ाती है। आज किसी भी क्षेत्र में नौकरी करनी है, तो उसके लिए शैक्षिक योग्यता निश्चित है। चपरासी होने के लिए चैथी पास होना अनिवार्य है। किंतु जिन्हें देश चलाना है, उनके लिए कुछ भी अनिवार्य नहीं है। आज तक किसी भी पार्टी ने इसमें बदलाव का साहस नहीं दिखाया है और आगे दिखाने की उम्मीद भी नहीं है। यही कारण है आज कितने ही राजनेता ऐसे हैं, जिन पर कई केस दर्ज हैं। इन अपराधी राजनेताओं से देश का प्रशासन सुचारू रूप से चलेगा यह केवल भ्रम है। नाटक का पात्र बज्जरसिंह भी जल्द ही समझ जाता है। जंगलों में रहकर, लोगों को लूटकर जिंदगीभर लुका-छिपी खेलने के बजाय लोक प्रतिनिधि बनकर जनता को खुलेआम लूटे। जो जनता हमसे डरकर नेताजी को वोट दे सकती है, वे हमें भी तो दे सकते हैं। बज्जरसिंह की सोच यह दशार्ती है कि राजनीति उन लोगों के लिए आसान है, जिनसे जनता खौफ खाती है। बज्जरसिंह अपने साथियों से कहता है, तुम लोगों को मालूम होगा कि यहाँ हमसे भी बड़े-बड़े डाकू हैं, हमसे भी बड़े-बड़े अपराधी हैं। हमसे भी बड़े पापी हैं, मगर उन्हें न तो कोई डाकू कहता है और न अपराधी। समाज की निगाह में ये लोग जनता के सेवक हैं। पुलिस की निगाह में ये लोग देश के नेता हैं। इनके सामने जनता अपना माथा झुकाती है। वह उनकी जयजयकार करती है। कानून की निगाह में ये लोग इज्जतदार नागरिक माने जाते हैं। पुलिसवाले इन लोगों के आगे पीछे होते रहते हैं।¹ बज्जरसिंह अप्रत्यक्ष रूप से नेताओं की चारित्रिक पोल खोलता है। बज्जरसिंह अपने डाकू भेस को बदलकर खादी पहन लेता है। क्योंकि खादी पहनने के बाद व्यक्ति की सही पहचान दब जाती है। अब बज्जरसिंह जनता का सेवक है। वह जनता से प्रायश्चित के लिए एक अवसर माँगता है। यह अवसर एक बहाना है क्योंकि जनता को बज्जरसिंह को वोट देना अनिवार्य है। चुनाव में बज्जरसिंह को जीत मिलती है। बज्जरसिंह ठाकुर ब्रजनाथसिंह नाम से अपनी नयी पहचान बनाते हैं। अब वह जंगलों या बीहड़ों में रहनेवाले नहीं बल्कि सामान्य जनता का दिल्ली में प्रतिनिधित्व करनेवाले सफेदपोश डाकू है। दरअसल बज्जरसिंह का चुनाव में खड़े रहना एवं विजयी होना भारतीय लोकतंत्र के सामने सबसे बड़ी चुनौती है।

यह नाटक राजनीतिक चेतना पर आधारित है। लेखक ने बड़ी ही मजेदार कथा को अपने नाटक का आधार बनाया है। सहज, सरल संवाद एवं पात्रों की सीमित संख्या ने नाटक को गतिशील बनाया है। यह नाटक अपने समय के सच को उद्घाटित करता है। राजनीतिक गतिविधियाँ हमेशा ही अन्य सभी परिस्थितियों को प्रभावित करती हैं। मनुष्य

का विकास भी राजनीतिक व्यवस्था पर ही निर्भर करता है। अतः इस व्यवस्था में भ्रष्ट एवं अनैतिक चरित्रवाले नेताओं की बढ़ती संख्या चिंतनीय है। सत्ता की लालसा ने राजनीतिक मानदंडों को ध्वस्त किया है। अब जोड़-तोड़ की राजनीति शुरू हुई है। यह नाटक इन सभी तथ्यों पर से परदा हटाता है। राजनेताओं की पोल खोलता है। इस व्यवस्था की कमियाँ बताता है। आम आदमी को चेतित कर अपनी खामोशी एवं बेबसी तोड़ने के लिए मजबूर करता है। आज किसी राजनीतिक दल या राजनेता पर कलम चलाना मुश्किल है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता भी सिकुड़ने लगी है। ऐसे माहौल में नाटककार केवल अपनी बात नहीं रखता है, बल्कि कई भेदों (रहस्य) को बेपर्दा करता है।

संदर्भ सूची:

1. बीच का रास्ता नहीं होता, पाश, पृ.188
2. 'कल दिल्ली की बारी है' - श्रवणकुमार गोस्वामी, पृ. 19
3. 'कल दिल्ली की बारी है' - श्रवणकुमार गोस्वामी, पृ. 13
4. <http://blogs.intoday.in/aahtak/removal of>
5. 'कल दिल्ली की बारी है' - श्रवणकुमार गोस्वामी, पृ. 41
6. समयांतर, सितंबर, 2017, पृ. 6
7. 'कल दिल्ली की बारी है' -श्रवणकुमार गोस्वामी, पृ. 48
8. 'कल दिल्ली की बारी है' -श्रवणकुमार गोस्वामी, पृ. 12
9. 'कल दिल्ली की बारी है' -श्रवणकुमार गोस्वामी, पृ. 63

सहायक प्राध्यापक,
सावित्रीबाई फुले महिला महाविद्यालय, सातारा



श्रवणकुमार गोस्वामी के प्रहसन का यथार्थ

डॉ. सत्यवती चौबे

डॉ. श्रवणकुमार गोस्वामी हिंदी साहित्याकाश के उन महानतम साहित्यकारों में से एक हैं जिन्होंने एक-दो नहीं, अपितु हिंदी साहित्य की प्रायः सभी विधाओं में सिद्धहस्तता प्राप्त की है। अपने दर्जनों सर्जित साहित्य में इन्होंने प्रहसन को भी उतना ही महत्वपूर्ण स्थान दिया जितना कि साहित्य की अन्य विधाओं को। इनके साहित्य में विषय तथा संवेदना की विविधता इन्हें अन्य साहित्यकारों से अलग करती है। इनके प्रहसनों पर चर्चा करने के पूर्व प्रहसन पर विचार करना आवश्यक जान पड़ता है।

भारतीय काव्यशास्त्र में भरतमुनि ने प्रहसन के दो भेद शुद्ध-प्रहसन और संकीर्ण प्रहसन स्वीकार किया, जिसमें विभिन्न वर्ग समूह के चरित्रों के मध्य परिहासपूर्ण चर्चाएँ होती हैं, हास्यरस की प्रधानता प्रेक्षकों का मनोरंजन करने के साथ ही सारगर्भित एवं उद्देश्य पूर्ण सीख भी देती है। आधुनिक हिंदी साहित्य में भारतेन्दु हरिश्चंद्र कृत 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'अँधेर नगरी', बालकृष्ण भट्ट कृत 'जैसा काम वैसा दुष्परिणाम' आदि प्रहसन इसके प्रत्यक्ष दृष्टांत हैं। प्राचीनकाल से लेकर वर्तमान समय तक हुए अनेकानेक सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक नैतिक परिवर्तनों में इन प्रहसनों ने भी अपनी अहम् भूमिका निभाई है। मसलन धार्मिक पाखंड बाह्याडंबर, बाल-विवाह, विधवा विवाह, नशा-मद्यपान, पाश्चात्य सभ्यता संस्कृति का बढ़ता वर्चस्व, स्त्री-शिक्षा, कुपोषण, संबंधों के बदलते मायने, राजनीतिक छल-छद्म, भ्रष्टाचार अफसरशाही, सामाजिक-आर्थिक विषमता, सांस्कृतिक परिवर्तनों के साथ-साथ अनेक पारिवारिक-सामाजिक-राजनीतिक विकृतियों का उद्घाटन इन प्रहसनों के माध्यम से बखूबी हुआ है जो अपने श्रोताओं-दर्शकों को हँसते-हँसाते उनकी अन्तात्मा को भी झकझोर देते हैं।

इसी संदर्भ में डॉ. श्रवणकुमार गोस्वामी अपने प्रहसन 'हमारी माँगेँ पूरी करो' के फ्लैप पर लिखते हैं- "प्रकृति से मनुष्य को जो विविध निधियाँ प्राप्त हुई हैं उनमें एक प्रमुख निधि है-विनोदवृत्ति। जो विनोद कर सकता है वह स्वयं तो शान से जीता ही है, दूसरों को भी सानंद जीने का अवसर उपलब्ध कराता है। इस विनोदवृत्ति की महत्ता को रेखांकित करते हुए गाँधी ने कहीं लिखा है कि यदि मुझमें विनोदवृत्ति नहीं होती तो मैं

कब का मर गया होता। यही वृत्ति जब नाटक में प्रमुख रूप से सक्रिय हो उठती है तब प्रहसन की रचना होती है।

कहते हैं कि हँसना और रोना किसे नहीं आता है। लेकिन सच यह है कि यहाँ रोनेवाले कदम-कदम पर मिल जाते हैं और हँसने वाला कभी-कभी ही कोई नजर आता है। हमारी दुनिया में यदि रोने के बहाने हजार हैं तो रोने के उन्हीं बहानों के भीतर हँसने-हँसाने के आधार भी पर्याप्त मात्रा में छिपे होते हैं। मगर आदमी को रोने की कुछ ऐसी लत पड़ गई है कि वह हँसने-हँसाने के मौके पर भी रोना शुरू कर देता है।^{११}

साहित्यिक संवेदना के मर्मज्ञ और मूर्धन्य कलाकार श्रवणकुमार गोस्वामी के अब तक दो प्रहसन प्रकाशित हैं। पहले प्रहसन 'पति-सुधार-केंद्र' का प्रकाशन सन् १९९८ में हुआ था, जिसके संदर्भ में गोस्वामी जी लिखते हैं- 'आकाशवाणी के 'विविध भारती' कार्यक्रम की लोकप्रियता सर्वविदित है। जब दूरदर्शन के कार्यक्रम भारत के कुछ महानगरों में ही देखे जा सकते थे, तब आकाशवाणी का प्रत्येक श्रोता रात्रि के सवा नौ बजने की प्रतीक्षा करता रहता था। सवा नौ बजते ही 'हवा महल' की प्रारंभिक धुन बज उठती थी और उसके बाद श्रोता लगभग चौदह मिनटों तक मनोरंजन की एक लुभावनी दुनिया में खो जाया करते थे। उसी दौर में इस संग्रह के प्रायः सभी प्रहसन लिखे गए हैं। 'हवा महल' के अतिरिक्त आकाशवाणी के विभिन्न केंद्रों में भी इन प्रहसनों का बार-बार प्रसारण होता रहा है।

अकसर यह शिकायत सुनने को मिलती है कि किसी अवसर-विशेष पर मंचन करने योग्य प्रहसन हिंदी में सुगमता से नहीं मिल पाते। इसी शिकायत को दूर करने के उद्देश्य से मूलतः आकाशवाणी के लिए लिखे गए इन प्रहसनों को जो पहले केवल श्रव्य थे, अब मैंने उन्हें मंचोपयोगी रूप प्रदान कर दिया है।^{१२}

श्रवणकुमार गोस्वामी कृत इनका दूसरा प्रहसन 'हमारी माँगें पूरी करो' सन १९९९ में प्रकाशित हुआ। इन प्रहसनों का प्रसारण भी विविध भारती के सर्वप्रिय कार्यक्रम 'हवा महल' के अंतर्गत हुआ, साथ ही आकाशवाणी के विभिन्न केंद्रों ने भी इन प्रहसनों का प्रसारण किया।

'पति सुधार केंद्र' कुल नौ प्रहसनों का संग्रह है जिसमें 'भगवान की हार', 'एक प्याली चाय', 'इधर का उधर और उधर का इधर', 'सिर्फ आँखों से', 'खुली कार', 'अंगरक्षक', 'बीच का आदमी', नहले पर दहला और 'पति सुधार केंद्र' जैसे उत्कृष्ट प्रहसन संगृहीत हैं, तो वहीं 'हमारी माँगें पूरी करो' में कुल बारह प्रहसन क्रमशः 'विदाई समारोह', 'जादुई कवच', 'भोर का सपना', 'टूटी टाँग, टूटी कमर', 'वास्तव में', 'हमारी माँगें पूरी करो', 'इधर ऐसा ही होता है', 'नौकर दिलाऊ एजेंसी', 'लोकप्रियता', 'चंद्रमुखी', 'जरा सुनिए', 'पत्नी एक अभिनेता की' संगृहीत हैं।

श्रवणकुमार गोस्वामी के इन प्रहसनों की अनेक-अनेक खूबियाँ हैं जो रोजमर्रा की जिंदगी में होनेवाली खट्टी-मीठी घटनाओं को अत्यंत सहजता और हल्के फुल्के अंदाज में पाठकों-प्रेक्षकों के समक्ष हास्य व्यंग्य के रूप में आती हैं और उनके चेहरे पर मुस्कान बिखरने के साथ-साथ उनकी सुप्त विनोद वृत्ति को पुनः जागृत कर देती हैं।

‘पति सुधार केंद्र’ का पहला प्रहसन ‘भगवान की हार’ में मरणोपरांत स्वर्ग प्राप्ति की लालसा को दर्शाया गया है। कर्म से अधर्मी, नरक में भी स्थान पाने की योग्यता नहीं रहने के बावजूद समाज के सभी दुराचारी स्वर्ग की कामना करते हैं। इस बाबत वे भगवान को ही मूर्ख बनाकर उन पर मुकदमा दायर करते हैं। अनैतिक दुराचारी लोग अपने बर्ताव व्यवहार से ईश्वर को भी नहीं छोड़ते, आम आदमी की क्या बिसात है। यही इस प्रहसन में दर्शाया गया है।

श्रवण कुमार गोस्वामी के इस संग्रह का दूसरा प्रहसन ‘एक प्याली चाय’ इस तथ्य की पुष्टि करता है कि अपनी झूठी शानो-शौकत बघारने वाले फरेबी लोग समाज को दीमक की तरह खोखला कर रहे हैं, दूसरों को मूर्ख बनाकर अपना उल्लू सीधा करने की उनकी नीयत उनकी स्वार्थी प्रवृत्ति को प्रत्यक्ष रूप से दर्शाती है।

तीसरा प्रहसन ‘इधर का उधर और उधर का इधर’ दाम्पत्य जीवन आपसी विश्वास के अभाव में टूटने-बिखरने के कगार पर खड़े एक दंपति की कथा है, जिसमें डाकिया की गलती की वजह से एक ही कालोनी में रहनेवाले अमर और आनंद का पत्र आपस में ‘ए’ लेटर की वजह से बदल जाता है और एक परिवार अविश्वास और गलतफहमी का शिकार होते-होते बच जाता है। यह प्रहसन भी अत्यंत रोचक है।

चौथा प्रहसन ‘सिर्फ आँखों से’ में शराब पर पाबंदी, नशाखोरी पर कानून बनने के बावजूद इशक में नायिका की नशीली आँखों से पीने के जुर्म में पकड़े गए एक नवयुवक की कथा है जिसमें लेखक हास्य व्यंग्य के माध्यम से देश की प्रशासनिक व्यवस्था व कानून व्यवस्था का पर्दाफाश करते हैं। इनके द्वारा रचित पाँचवाँ प्रहसन ‘खुली कार’ में आम जनता से लेकर प्रशासनिक व्यवस्था में बैठे भ्रष्ट आचरण वाले अधिकारियों की नीयत पर सवालिया निशाना साधा गया है जिसमें अपनी शौक से खुली कार खरीदने वाला व्यक्ति कभी अपने रिश्तेदारों, पड़ोसियों से, तो कभी नेता पुलिस आदि अधिकारियों से इतना सताया जाता है कि उसे अपनी मनपसंद कार बेचनी ही पड़ती है।

छठवाँ प्रहसन ‘अंगरक्षक’ में अपने रुतबे को बढ़ाने के लिए अपनी सुरक्षा हेतु रखे गए अंगरक्षक के जी का जंजाल बनने की पीड़ा को दर्शाया गया है। सातवाँ प्रहसन ‘बीच का आदमी’ किसी भी मामले में मध्यस्थता करने के फायदे और नुकसान पर केंद्रित है। चाहे वह मकान दिलवाने या विवाह करवाने की मध्यस्थता हो अथवा अन्य कुछ परंतु यह अपने आप में जोखिमभरा, चुनौती भरा कार्य है।

आठवाँ प्रहसन 'नहले पर दहला' की कथा दो दोस्तों द्वारा उनकी पत्नियों के समक्ष एक दूसरे को चिढ़ाने-चिढ़ाने से आरंभ होती है और दाम्पत्य जीवन में आपसी तकरार, नोक-झोंक, आरोप-प्रत्यारोप में बदल जाती है। अंत में शंकाओं का समाधान होता है।

नौवाँ प्रहसन 'पति सुधार केंद्र' में भी दाम्पत्य जीवन में उदासीन संबंध तथा आपसी विश्वास की कमी को दर्शाया गया है। एक पत्नी पीड़ित पति नकली डॉक्टर बनकर शहर की औरतों की भलाई के लिए एक पति सुधार केंद्र खोलता है और उन्हें बेवकूफ बनाकर उनके पतियों का इलाज करता है। डॉक्टर का यह कार्य दर्शाता है कि आजकल के समाज में जो जिस समस्या से पीड़ित है, वह उसी का इलाज करने ठीक करने या समाधान करने का दावा करता है। इसी प्रहसन के नाम पर इस प्रहसन संग्रह का नाम भी रखा गया है।

'हमारी माँगें पूरी करो' प्रहसन संग्रह का पहला प्रहसन 'विदाई समारोह' में लेखक श्रवणकुमार गोस्वामी ने दर्शाया है कि सरकारी या गैर-सरकारी दफ्तरों में कार्यरत कर्मचारी अपने भ्रष्ट अनैतिक व्यवहार वाले अधिकारियों की खिल्ली उड़ाते हैं परंतु उनके सामने आते ही उनकी चापलूसी या चमचागिरी करने में लिप्त हो जाते हैं। विदाई समारोह में अपने उन्हीं अधिकारियों का महिमामंडन करते हैं परंतु अपनी पोल खुलते ही शर्मिंदा होकर अपने काम में व्यस्त होने का स्वांग करते हैं।

इस संग्रह का दूसरा प्रहसन है-जादुई कवच। इस प्रहसन में यह उद्घाटित किया गया है कि मनुष्य यथार्थ में कम और चमत्कार में अधिक विश्वास करता है। प्रहसन के दोनों पात्र लल्लू और मंटू चमत्कारिक कवच के माध्यम से अपनी-अपनी समस्याओं का समाधान करना चाहते हैं, गरीबी भुखमरी मिटाना चाहते हैं। अपनी मंजिल तक पहुँचने के लिए कठिन परिश्रम के बजाय शार्टकट का रास्ता अख्तियार करते हैं। इस प्रहसन का दूसरा पहलू यह भी है कि भोली-भोली आम जनता को बेवकूफ बनाकर, उल्लू बनाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करनेवाले लोगों से यह समाज भरा पड़ा है।

तीसरा प्रहसन 'भोर का सपना' में एक अत्यंत भ्रष्ट पेशकार की भ्रष्टाचारी प्रवृत्तियों का पर्दाफाश किया गया है। कानून व्यवस्था में जनता की सेवा करनेवाला एक अदना-सा अधिकारी पेशकार कितना रिश्वतखोर हो सकता है कि उसके परिवार के प्रत्येक सदस्य के पास अथाह नाजायज चल-अचल संपत्ति एंटी करप्शन डिपार्टमेंट द्वारा जब्त की जाती है और पेशकार को निलंबित किया जाता है, इस तथ्य को बड़ी रोचकता से प्रस्तुत किया गया है।

'टूटी टाँग टूटी कमर' इस संग्रह का चौथा प्रहसन है, जिसमें इस विडंबना को उजागर किया गया है कि भारतीय परिवारों में बीमार व्यक्ति को देखने आनेवाले उनके हित मित्र, रिश्तेदार, किस कदर रोगी के परिवार पर मुसीबतों का पहाड़ बनकर टूटते समीचीन

हैं कि रोगी की देखभाल करना छोड़कर उन्हीं की तीमारदारी-खातिरदारी में लग जाना पड़ता है। बीमारी के खर्च के अतिरिक्त अतिथि स्वागत से व्यक्ति की कमर टूट जाती है, आर्थिक स्थिति चरमरा जाती है।

पाँचवाँ प्रहसन 'वास्तव में' दर्शाया गया है कि कविगण और नेतागण हमेशा यही चाहते हैं कि आम जनता क्रमशः उनकी कविता और भाषण सुनकर उनकी प्रशंसा के पुल बाँधे, परंतु आज की जनता कुछ भी बकवासबाजी सुनने में यकीन नहीं करती, अपितु सारगर्भित, उद्देश्यपूर्ण बातों पर यकीन करती है। इस तथ्य को लेखक ने कुछ इस प्रकार दर्शाया है कि कुछ नौसिखिए कवि अपनी-अपनी बेतुकी कविताएँ सुनाने के लिए डाकू का वेश धारण कर एक बस का अपहरण करते हैं और उन्हें लूटने के बजाय जबरदस्ती कवि सम्मेलन की महफिल बनाकर अपनी बेतुकी कविताएँ शैरो शायरी सुनाने लगते हैं। लोगों के ऊबने पर अपनी नकली बंदूक से धमकी देते हैं। काफी समय के उपरांत एक इंस्पेक्टर आकर उन्हें बचाता है, लोग उसकी जयजयकार करने लगते हैं। अपनी प्रशंसा सुनकर वह अपनी वर्दी निकालकर फेंक देता है और उसका वास्तविक रूप सबके सामने आ जाता है। पुलिस वास्तव में एक नेता होता है जिसका भाषण कोई सुनना नहीं चाहता इसलिए अब वह लोगों को बंदी बनाकर अपना भाषण सुनने पर विवश करता है।

'हमारी माँगें पूरी करो' प्रसहन संग्रह का छठवाँ प्रहसन है-'हमारी माँगें पूरी करो'। यह प्रहसन बाल मनोविज्ञान पर आधारित है। बच्चों की छोटी-छोटी माँगें माता-पिता पूरी नहीं करते। वे उन्हें उन सभी कार्यों को करने से मना करते हैं जिसे वे खुद करते हैं। मसलन चाय पीना, सिनेमा देखना, अपने पसंद के कपड़े खरीदना-पहनना, हर समय उन्हें पढ़ने के लिए डाँटना, अपने से नीचे के वर्ग से या निम्न तबके के बच्चों के साथ खेलने या दोस्ती करने से, कम जेब खर्च के कारण चोरी करते हुए पकड़े जाने पर गंगा करके बेंत से पीटना, खाना बंद करना, बाथरूम में बंद करना, उन्हें किसी भी गलती के लिए गाली-गलौज देना, मारना-पीटना, लड़के-लड़की की परवरिश में अंतर करना इत्यादि। इस प्रहसन में अपने माता-पिता के ऐसे बर्ताव से तंग आकर कॉलोनी के सभी बच्चे एकजुट होकर उनके विरोध में नारा लगाते हैं और आवश्यकता पड़ने पर शहर के सभी बच्चों के साथ बातचीत करके आंदोलन घेराव और भूख हड़ताल भी करने की बात करते हैं। आज बच्चे अपने अधिकारों के प्रति कितने जागरूक हैं, इस तथ्य को इस प्रहसन के माध्यम से दर्शाया गया है।

इस संग्रह के सातवें प्रहसन 'इधर ऐसा ही होता है' में दर्शाया गया है कि किस प्रकार से यदि किसी अभिनेता को फिल्म की स्क्रिप्ट पसंद नहीं आती है तो वह उस फिल्म में किसी भी कीमत पर काम नहीं करना चाहता है फिर भी डायरेक्टर उस पर साम-दाम दंड भेद की नीति अपनाकर उसे एक प्रकार से बंदी बनाकर अपनी बात मनवाने के लिए

उसे कैसे बाध्य करता है, मजबूर करता है।

इस संग्रह के आठवें प्रहसन 'नौकर दिलाऊ एजेंसी' में शहरों में नौकर की गंभीर समस्या पर प्रकाश डाला गया है। शहर के विभिन्न भाषा-भाषी जाति-संप्रदाय के लोगों की नौकरों की जरूरत के लिए 'नौकर दिलाऊ एजेंसी' के माध्यम से लोगों को मूर्ख-बेवकूफ बनाने, जनता को लूटने वाली ऐसी एजेंसियों पर व्यंग्य किया गया है।

इस संग्रह के नौवें प्रहसन 'लोकप्रियता' में इस बात को दर्शाया गया है कि एक कवि अपनी कविताओं के माध्यम से जगत-प्रसिद्धि प्राप्त करने या लोकप्रियता हासिल करने के लिए किस प्रकार झूठ का सहारा लेता है। अनैतिक आचरण, अनैतिक मार्ग अपनाने के कारण समाज में वह किस प्रकार हँसी और अवहेलना का पात्र बन जाता है। यह दशा महज कवियों की ही नहीं, अपितु समाज के तमाम बुद्धिजीवियों की यही दशा है।

'चंद्रमुखी' इस प्रहसन संग्रह का दसवाँ प्रहसन है। इस प्रहसन में एक कवि की पत्नी को यह शिकायत रहती है कि उसका पति उसे चंद्रमुखी कहता है जबकि उसे स्वयं के लिए चंद्रमुखी का उपमान अपमानजनक लगता है क्योंकि उसका मुख चंद्रमा से कहीं अधिक सुंदर है। कवि की कवित्तमय हृदय की भावनाओं, संवेदनाओं, अनुभूतियों की उसे कोई परवाह नहीं होती। इस बात को तूल देकर वह उससे अलग होना चाहती है परंतु अंततः कवि अपनी बुद्धिमत्ता से अपनी बात पत्नी को समझाने में सफल होता है।

'जरा सुनिए' ग्यारहवें प्रहसन में इस यथार्थ को आलोकित किया गया है कि एक मेहनतकश कर्मचारी पर उसका कामचोर अधिकारी कितना अन्याय करता है। दफ्तर में वह अधिकारी के काम के बोझ तले दबा हुआ है तो घर में अपनी बीवी के हुक्म के बोझ तले। दोनों उस पर चिल्लाते हैं और वह दोनों के बीच पिसता रहता है।

इस संग्रह का अंतिम और बारहवाँ प्रहसन है-पत्नी एक अभिनेता की'। एक ऐसा अभिनेता जिसके लिए उसका नाटक उसका जीवन है, उसकी मंजिल, उसकी उपासना सब कुछ है परंतु उसकी गंवार-अनपढ़ जाहिल पत्नी उसके काम की बारीकियों को बिल्कुल समझ नहीं पाती। वह उसे नाटक छोड़ने पर विवश करती है। उस अभिनेता को किन-किन परिस्थितियों से गुजरना पड़ता है, यही इस प्रहसन में द्रष्टव्य है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि श्रवणकुमार गोस्वामी के ये दोनों प्रहसन-संग्रह जीवन की विभिन्न छोटी-छोटी घटनाओं पर आधारित होते हुए भी अपने आप में एक गूढ़ और गंभीर अर्थ समाहित किए हुए हैं। अनेक प्रहसनों से समरसता और समानता भी दिखती है। मसलन कई प्रहसनों में बहु-भाषा-भाषी पंजाबी-बंगाली-मद्रासी-बिहारी चरित्रों का होना, एक ही तरह के शिल्प और शैली का होना, एक जैसी ही भाषा-शैली और संवाद का होना आदि। ये तमाम बातें इस तथ्य की पुष्टि करती हैं कि लेखक

श्रवणकुमार गोस्वामी को भारत की विभिन्न भाषाओं की गहरी पकड़ है, समझ है। भाषाशैली सहज-सरल-सरस और मनोहारी है। इनके पात्र हर तबके से जुड़े हुए हैं। प्रहसनों में हास्य के साथ व्यंग्य का पुट इन्हें तत्कालीन यथार्थ से जोड़ता है। श्रवणकुमार गोस्वामीजी के इन प्रहसनों की यह खूबी है कि इनका साहित्य कभी समस्याओं के साथ समाप्त नहीं होता, अपितु हर समस्या का निराकरण कर एक सकारात्मक और सुखद अंत होता है। गोस्वामी जी के इन प्रहसनों का अध्ययन करने के उपरांत यह कहने में कोई गुरेज नहीं कि वर्तमान युग के श्रेष्ठ प्रहसनकारों में इनका नाम शुमार है और हिंदी साहित्य इन प्रहसनों से समृद्ध हुआ है।

संदर्भ सूची :

- १) हमारी माँगें पूरी करो-श्रवण कुमार गोस्वामी, फ्लैप कवर से
- २) पति सुधार केंद्र-श्रवण कुमार गोस्वामी, पृष्ठ-३ या फ्लैप कवर से

विभागाध्यक्ष, हिंदी विभाग,
विल्सन कॉलेज,
गिरगाँव चौपाटी, मुंबई-०७
■■■

‘समीचीन’ के लिए शुभकामनाओं सहित

श्रीमती सुनीता गुप्ता

हिंदी विभागाध्यक्ष
एल. एस. रहेजा कॉलेज
सांताक्रुज (पश्चिम),
मुंबई-४०००५४

अगला अंक
जुलाई-दिसंबर २०१९



कमलेश बक्शी की रचनाओं पर केन्द्रित

जनवरी-जून २०२०



वीरेंद्र डंगवाल की रचनाओं पर केन्द्रित

With best compliments from :

With best wishes from :



CREATIVE EYE LTD.

CORPORATE OFFICE : 'KAILASH PLAZA' PLOT NO. 12-A, NEW LINK ROAD.
OPP. LAXMI IND. EST. ANDHERI (W), MUMBAI-400 053.
Tel. : 26732612-15 • Fax26315024
E-mail : dk@creativeeye.vsnl.netin • visit our Website : www.creativeeye.com